जैनधर्म में तीर्थंकर : एक विवेचना

डॉ. रमेशचन्द्र गुप्त...

१. जैनधर्म में तीर्थंकर का स्थान

जैनधर्म में तीर्थंकर को धर्मतीर्थ का संस्थापक कहा गया है। 'नमोत्थुणं' नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थंकर को धर्म की आदि करने वाला, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्ममार्ग का सारथी और धर्मचक्रवर्ती कहा गया है। जैनाचार्यों ने एकमत से यह माना है कि समय-समय पर धर्मचक्र-प्रवर्तन हेतु तीर्थंकरों का जन्म होता रहता है। जैनधर्म का तीर्थंकर गीता का अवतार के समान धर्म का संस्थापक तो है किन्तु दुष्टों का दमन एवं सज्जनों की रक्षा करने वाला नहीं है। जैनधर्म में तीर्थंकर लोककल्याण के लिए मात्र धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं किन्तु अपनी वीतरागता, कर्मसिद्धान्त की सर्वोपरिता एवं अहिंसक साधना की प्रमुखता के कारण हिन्दूधर्म के अवतार की भाँति वे अपने भक्तों के कष्टों को दूर करने हेतु दुष्टों का दमन नहीं करते हैं।

जैन-धर्म में तीर्थंकर का कार्य है - स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना । वे धर्ममार्ग के उपदेष्टा और धर्म मार्ग पर चलने वालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है, स्वयं को संसार चक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिए प्रेरित करना और उनकी साधना में सहयोग प्रदान करना। तीर्थंकर को संसार-समुद्र से पार होने वाला और दूसरों को पार कराने वाला कहा गया है।[१] वे पुरुषोत्तम हैं। उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक कमल के समान वरेण्य और गंधहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्ता तथा दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।

२. तीर्थंकर शब्द का अर्थ और इतिहास

धर्मप्रवर्तक के लिए जैन-परंपरा में सामान्यतया अरहंत, जिन, तीर्थंकर - इन शब्दों का प्रयोग होता रहा है। जैन-परंपरा में तीर्थंकर शब्द कब अस्तित्व में आया, यह कहना तो कठिन है किन्तु निःसंदेह यह ऐतिहासिक काल में प्रचलति था। बौद्ध - साहित्य में अनेक स्थानों पर 'तीर्थंकर' शब्द प्रयुक्त हुआ है, दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में छह अन्य तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है।[३]

जैनागमों में उत्तराध्ययन, आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, स्थानांग, समवायांग और भगवती में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हुआ है।[४]

संस्कृत में तीर्थ शब्द घाट या नदी के तीर का सूचक है। वस्तुतः जो किनारे से लगाए वह तीर्थ है। धार्मिक जगत् में भवसागर से किनारे लगाने वाला या पार कराने वाला तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ शब्द का एक अर्थ धर्मशासन है। इसी आधार पर संसार-समुद्र से पार कराने वाले एवं धर्मतीर्थ (धर्मशासन) की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं।

भगवतीसूत्र एवं स्थानांग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्मों का पालन करने वाले साधकों के चार प्रकार बताए गए हैं।

श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका - इस चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा जाता है तथा इस चतुर्विध संघ के संस्थापक को तीर्थंकर कहते है।[५] वैसे जैन-साहित्य में तीर्थंकर का पर्यायवाची प्राचीन शब्द 'अरहंत' (अर्हत्) है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग में इसी शब्द का प्रयोग हुआ है।

विशेषावश्यकभाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि 'जिसके द्वारा पार हुआ जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं।' इस आधार पर जिन-प्रवचन को तथा ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न संघ को भी तीर्थ कहा गया है। पुनः तीर्थ के ४ विभाग किए गए हैं -

१. नामतीर्थ
२. स्थापनातीर्थ
३. द्रव्यतीर्थ
४. भावतीर्थ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थ नाम से सम्बोधित किए जाने वाले स्थान आदि नाम -तीर्थ कहे जाते हैं। जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मंदिर, प्रतिमा आदि स्थापित किए जाते हैं, वे स्थापनातीर्थ कहलाते हैं। जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य-शरीर के मल को दूर करने वाले द्रव्यतीर्थ कहलाते हैं। जिनके द्वारा मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकास दूर होते हैं तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है, वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन भावतीर्थ कहा जाता है। भावतीर्थ पूर्व संचित कर्मों को दूर कर तप, संयम आदि के द्वारा आत्मा की शुद्धि करने वाला होता है। तीर्थंकरों के द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ भी संसाररूपी समुद्र से पार कराने वाला होने से भावतीर्थ कहा जाता है। इस भावतीर्थ के संस्थापक ही तीर्थंकर कहे जाते हैं।[६]

तीर्थंकर शब्द का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, भगवती ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र में उपलब्ध होता है किन्तु कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने गए हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में आचारांग १ , सूत्रकृतांग १, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ऋषिभाषित आते हैं किन्तु इन आगम-ग्रंथों में केवल उत्तराध्ययन में ही 'तित्थयर' शब्द मिलता है। अन्य किसी भी प्राचीन स्तर के ग्रन्थ में यह शब्द उपलब्ध नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में अरहंत शब्द का प्रयोग ही अधिक हुआ है। तीर्थंकर की अवधारणा का विकास मुख्य रूप से अरहंत की अवधारणा से हुआ है।[७] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भूतकाल और भविष्यत्काल के अर्हन्तों की अवधारणा मिलती है। फिर भी इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि उस युग में यह विचार दृढ़ हो गया था कि भूतकाल में कुछ अर्हंत् हो चुके हैं, वर्तमान में कुछ अर्हंत हैं और भविष्यकाल में कुछ अर्हंत होंगे। संभवत: यही वर्तमान, भूत और भावी तीर्थकरों की अवधारणा के विकास का आधार रहा होगा। सूत्रकतांग में भी हमें 'अरह' शब्द मिलता है, तीर्थंकर शब्द नहीं मिलता। प्राचीन ग्रन्थों में सबसे पहले हमें उत्तराध्ययन में 'तित्थयर' शब्द मिलता है। इसके २३ वें अध्याय में अर्हत् पार्श्व और भगवान वर्धमान को धर्म-तीर्थंकर (धम्म .... तित्थयरे) यह विशेषण दिया गया है। उत्तराध्ययन के इसी २३वें अध्याय की २६वीं एवं २७वीं गाथा में कहा गया है कि पहले (तीर्थंकर) के साधु ऋजु जड़ अर्थात् सरलचित्त और मूर्ख (जड़) होते हैं और अन्तिम (तीर्थंकर) के वक्र जड़ होते हैं, जबकि मध्यम के ऋजु और प्राज्ञ होते हैं।[८] इस गाथा से ऐसा लगता है कि उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय के रचनाकाल तक तीर्थंकर की अवधारणा बन चुकी होगी। इस गाथा से इतना अवश्य फलित होता है कि उस युग तक महावीर को अन्तिम तथा पार्श्व को उनका पूर्ववर्ती तीर्थंकर और ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर माना जाने लगा होगा। वैसे तीर्थंकर की विकसित अवधारणा हमें मात्र समवायांग और भगवती में ही मिलती है। समवायांग में भी यह सारी चर्चा उसके अंत में जोड़ी गई है। इससे इसकी परिवर्तिता निश्चित रूप से सिद्ध होती है। नन्दी में समवायांग की विषय-वस्तु की चर्चा में प्रकीर्णक समवाय का उल्लेख ही नहीं है। सम्भवत: आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के रचनाकाल तक न तो तीर्थंकरों की २४ की संख्या निश्चित हुई और न यह निश्चित हुआ था कि ये तीर्थंकर कौन-कौन हैं। स्थानांग में ऋषभ, पार्श्व और वर्धमान के अतिरिक्त वारिषेण का उल्लेख हुआ है,[९] किन्तु वर्तमान में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा में वारिषेण का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भावना है कि आगे वारिषेण के स्थान पर अरिष्टनेमि को समाहित किया गया होगा, क्योंकि मथुरा में जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर का उल्लेख है। पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता तो सुनिश्चित ही है। अरिष्टनेमि और ऋषभ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कुछ आधार मिल सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में अरिष्टनेमि को भगवान लोकनाथ और दमीश्वर की उपाधि दी गई है।[१०] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-परम्परा के साहित्य में जिन आगमिक ग्रंथों को द्वितीय स्तर का माना गया है, उनमें ही तीर्थंकर की अवधारणा का विकसित रूप देखा जाता है। साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक आधारों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा सुनिश्चित हो गई थी।

३. तीर्थंकर की अवधारणा

पूर्वकाल में तीर्थंकर का जीव भी हमारी तरह ही क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रियसुख आदि जागतिक प्रलोभनों में फँसा हुआ था। पूर्व जन्मों में महापुरुषों के सत्संग से उसके ज्ञान-नेत्र खुलते हैं, वह साधना के क्षेत्र में प्रगति करता है और तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम-कर्म का उपार्जन कर तीर्थंकर बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।[११] अन्तिम जीवन (भव) में स्वयं सत्य का अनावरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करता है। जैनधर्म में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी भव्य जीव तप और साधना के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर सकता है और जिस भव (जन्म) में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है, उसके तृतीय भव में वह नियमतः तीर्थंकर बनता है।[१२] जैन-मान्यता के अनुसार पूर्व भव में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करने वाली आत्मा जब वर्मतान भव में साधना के माध्यम से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्म नष्ट करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करती है और साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप धर्मतीर्थ की स्थापना करती है, तब वह वस्तुतः तीर्थंकर कहलाती है।

तीर्थंकर की अवधारणा वैदिक अवतारवाद की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। हिन्दू-धर्म में ईश्वर मानव के रूप में अवतरित होता है या जन्म लेता है। हिन्दू-धर्म के दृष्टिकोण में ईश्वर मानव रूप ग्रहण कर सकता है किन्तु मानव ईश्वर नहीं बन सकता, क्योंकि वह तो उसका अंश या सेवक माना गया है। जबकि जैन-धर्म के अनुसार कोई भी आत्मा अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई पर चढ़ते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकती है। एक आत्मा एक ही बार तीर्थंकर पद को प्राप्त करती है और फिर मुक्त हो जाती है। तीर्थंकर बन जाने के पश्चात् वह दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करती। जैनों के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर पुनः जीवात्मा नहीं बनता। वह सिद्धावस्था प्राप्त करने पर पुनः संसार में नहीं लौटता है।

तीर्थंकर की अवधारणा उत्तरण की अवधारणा है। उत्तरण में मानव तप एवं साधना के द्वारा अपनी राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व की अवस्था से ऊपर उठकर वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है और अंत में कर्मो से पूर्णतया मुक्त होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति के बाद जीव पुनः संसार में नहीं आता। इस प्रकार उत्तारवाद में मानव अपने विकारी जीवन से ऊपर उठकर परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

अतः जैनों में तीर्थंकर की जो अवधारणा है, वह उत्तारवाद की अवधारणा है, अवतारवाद की अवधारणा नहीं है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति एक विकास-प्रक्रिया का परिणाम है,

४. तीर्थंकर और अरिहंत

यद्यपि प्राचीन आगमों में अरिहंत और तीर्थंकर पर्यायवाची रहे हैं। परन्तु परवर्ती जैन विद्वानों ने उनमें अंतर किया है। उन्होंने शरीर सहित मुक्त-अवस्था के दो भेद किए हैं। 'वे अरिहंत' जिनके विशेष पुण्य के कारण कल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं। शेष सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।'[१३]

उपाध्याय अमरमुनिजी तीर्थंकर और अर्हत् का भेद स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होते हैं और न ही इतनी अलौकिक योगसिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना आत्मिक विकास का लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है, जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त-आत्माओं में भेद करती है।'[१४]

अस्तु अर्हत् (सामान्य केवली) और तीर्थंकरों में अंतर केवल इतना ही है कि अर्हत् स्वयं अपनी मुक्ति की कामना करते हैं और तीर्थंकर संसार-सागर से स्वयं पार होने के साथ-साथ दूसरों को भी पार कराते हैं। इसी विशेष गुण के कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

५. तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली का अन्तर

तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों के इस द्विविध वर्गीकरण के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ योगबिन्दु में स्वहित और लोकहित के आदर्शों के आधार पर एक त्रिविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया है -

तीर्थंकर - जो करुणा से युक्त है और सदैव परार्थ को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है, सत्वों के कल्याण की कामना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य है, जो अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के पश्चात् ही सत्वहित के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करता है, तीर्थंकर कहलाता है।[१५]

गणधर - वे साधक जो सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना के क्षेत्र में कार्य करते हैं और अपने सहवर्गीय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हित और कल्याण के लिए प्रयत्नशील होते हैं, गणधर कहे जाते हैं। समूहहित या गणकल्याण ही उनके (गणधर के) जीवन का आदर्श होता है।[१६]

सामान्य केवली - जो साधक आत्म-कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाता है और इसी आधार पर साधना करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता है, वह सामान्य केवली कहा जाता है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में उसे 'मुण्डकेवली' भी कहते हैं।[१७]

यद्यपि आध्यात्मिक पूर्णता और सर्वज्ञता की दृष्टि से तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली समान ही होते हैं किन्तु लोकहित के उद्देश्य को लेकर इन तीनों में भिन्नता होती है। तीर्थंकर, लोकहित के महान् उद्देश्य से प्रेरित होता है, जबकि गणधर का परहित-क्षेत्र सीमित होता है और सामान्य केवली का उद्देश्य तो मात्र आत्मकल्याण होता है।

६. सामान्य केवली और प्रत्येकबुद्ध

कैवल्य को प्राप्त करने की विधि की भिन्नता के आधार पर सामान्य केवली वर्ग के भी दो विभाग किये गए हैं -

१. प्रत्येकबुद्ध

२. बुद्धबोधित

प्रत्येकबुद्ध - जैनागमों में समवायांग १८ में प्रत्येकबुद्ध शब्द का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन में वर्णित करकण्डू, दुर्मुख, नमि और नग्गति को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है।१९ इसी प्रकार इसिभासियाई के निम्न ४५ ऋषियों को भी प्रत्येकबुद्ध कहा गया है[२०] -

१. देवनारद २. वज्जियपुत्त ३. असितदेवल ४. अंगिरस भारद्वाज ५. पुप्फसालपुत्त ६. वागलचीरी ७. कुम्मापुत्त ८. केतलीपुत्त ९. महाकासव १०. तेत्तलिपुत्त ११. मंखलीपुत्त १२. जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) १३. भयाली मेतेज्ज १४. बाहुक १५. मधुरायण १६. सोरियायण १७. विदुर १८. वरिसव कण्ह (वारिषेणकृष्ण) १९. आरियायण २०. उक्कल २१. गाहावतिपुत्त तरुण २२. दगभाल २३. रामपुत्त २४. हरिगिरि २५. अंबड, २६. मातंग २७. वारत्तए २८. अद्दएण २९. वद्धमाण ३०. वायु ३१. पास ३२. पिंग ३३. महासालपुत्तअरुण ३४. इसिगिरिमाहण ३५. अद्दालअ ३६. तारायण ३७. सिरिगिरिमाहणपरिव्वाय ३८. सातिपुत्तबुद्ध ३९. संजए ४०. दीवायणं ४१. इंदनाग ४२. सोम ४३. जम ४४. वरुण ४५. वेसमण।

जैन-परम्परा के अनुसार वे साधक जो कैवल्य या वीतराग दशा की उपलब्धि के लिए न तो अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा रखते हैं और न संघीय जीवन में रहकर साधना करते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। प्रत्येकबुद्ध किसी निमित्त को पाकर स्वयं ही बोध को प्राप्त होता है तथा अकेला ही प्रव्रजित होकर साधना करता है। वीतराग अवस्था और केवल्य प्राप्त करके भी एकाकी ही रहता है। ऐसा एकाकी आत्मनिष्ठ साधक प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। प्रत्येकबुद्ध और तीर्थंकर दोनों को ही अपने अन्तिम भव में किसी अन्य से बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वयं ही सम्बुद्ध होते हैं। यद्यपि जैनाचार्यों के अनुसार जहाँ तीर्थंकर को बोध हेतु किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ प्रत्येकबुद्ध को बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। यद्यपि जैन-कथा-साहित्य में ऐसे भी उल्लेख हैं, जहाँ तीर्थंकरों को भी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर विरक्त होते दिखाया गया है, यथा - ऋषभ का नीलाञ्जना नामक नर्तकी की मृत्यु से विरक्त होना। प्रत्येकबुद्ध किसी भी सामान्य घटना से बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित हो जाता है। जैन-परम्परा में उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित में प्रत्येकबुद्धों के उपदेश संकलित हैं किन्तु इन ग्रंथों में प्रत्येकबुद्ध शब्द नहीं मिलता है। प्रत्येकबुद्ध शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांग, समवायांग और भगवती में मिलता है। यद्यपि तीनों ही आगम ग्रन्थ परवर्तीकाल के ही माने जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रत्येकबुद्धों की अवधारणा का विकास परवर्तीकाल में ही हुआ है। वस्तुतः उन विचारकों और आध्यात्मिक साधकों को जो इन परम्पराओं से सीधे रूप में जुड़े हुए नहीं थे किन्तु उन्हें स्वीकार कर लिया गया था, प्रत्येकबुद्ध कहा गया।

बुद्धबोधित - बुद्धबोधित वे साधक हैं, जो अपने अन्तिम जन्म में भी किसी अन्य से उपदेश या बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं और साधना करते हैं। सामान्य साधक बुद्धबोधित होते हैं।

जैनधर्म में तीर्थंकर को गणधर, प्रत्येकबुद्ध और सामान्यकेवली से पृथक् करके एक अलौकिक पुरुष के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही स्वीकार किया गया है और उसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। तीर्थंकर की इन अलौकिकताओं में पंचकल्याण, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय आदि महत्त्वपूर्ण हैं, हम अगले पृष्ठों में क्रमशः इनकी चर्चा करेंगे।

८. तीर्थंकर की अलौकिकता

जैन-परम्परा में यद्यपि तीर्थंकर को एक मानवीय व्यक्तित्व के रूप में ही स्वीकार किया गया, फिर भी उनके जीवन के साथ क्रमशः अलौकिकताओं को जोड़ा जाता रहा है। जैन-परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में तीर्थंकर महावीर के जीवनवृत्त के संबंध में कुछ उल्लेख मिलता है किन्तु उसमें उन्हें एक उग्र तपस्वी के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उनके जीवन के साथ किसी अलौकिकता को नहीं जोड़ा गया किन्तु उसी ग्रन्थ के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में और कल्पसूत्र में महावीर के जीवन के साथ अनेक अलौकिकताएँ जोड़ी गई हैं। तीर्थंकर की माता उनकी गर्भावक्रान्ति के समय श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १४ और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६ शुभ स्वप्न देखती है। आचारांग में तीर्थंकर के गर्भ-कल्याण का उल्लेख मिलता है, फिर भी वह किस प्रकार मनाया जाता है, इसका विशेष विवरण तो टीका-ग्रन्थों एवं परवर्ती साहित्य में ही उपलब्ध होता है। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकर माता की जिस योनि में विकसित होते हैं, वह योनि अशुभ पदार्थो से रहित होती है। वे अशुचि से रहित निर्मल रूप से ही जन्म लेते हैं तथा देवता उनका जन्मोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय परिवेश शान्त रहता है, सुगन्धित वायु बहने लगती है, पक्षी कलरव करते हैं, उनके जन्म के साथ ही समस्त लोक में प्रकाश व्याप्त हो जाता है आदि। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकरों के दीक्षा -महोत्सव और कैवल्य-महोत्सव का सम्पादन भी देवता करते हैं। उनके दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व देवता अपार धनराशि उनके कोषागार में डाल देते हैं और वे प्रतिदिन एक करोड़ बावन लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हैं। सर्वज्ञता की प्राप्ति के पश्चात् देवता उनके लिए एक विशिष्ट समवसरण (धर्मसभा-स्थल) बनाते हैं, जिसमें बैठकर वे लोक-कल्याण हेतु धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अति प्राचीन जैन-ग्रन्थों यथा-आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध में महावीर के जीवन के संबंध में किन्हीं अलौकिकताओं की चर्चा नहीं है। सूत्रकृतां की वीर-स्तुति में भी मात्र उनकी कुछ विशेषताओँ का चित्रण है[२१] किन्तु उन्हें अलौकिक नहीं बताया गया है किन्तु आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध[२२] में और कल्पसूत्र[२३] में महावीर एवं कुछ अन्य तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक आदि की कुछ अलौकिकताओं के संबंध में सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। फिर परवर्ती आगम-साहित्य तथा कथासाहित्य में तो तीर्थंकर को पूर्णतया लोकोत्तर व्यक्ति बना दिया गया है, जिसकी हम क्रमशः चर्चा करेंगे।

(अ) तीर्थंकरों के पंचकल्याणक

तीर्थंकर और सामान्यकेवली में जैन-परम्परा जिस आधार पर अन्तर करती है, वह पंचकल्याणक की अवधारणा है। जहाँ तीर्थंकर के पंचकल्याणक महोत्सव होते हैं, वहाँ सामान्यकेवली के पंचकल्याणक महोत्सव नहीं होते[२४]। तीर्थंकरों के पंचकल्याणक निम्नांकित हैं -

१. गर्भकल्याणक - तीर्थंकर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६ स्वप्न देखती हैं तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।[२५]

२. जन्मकल्याणक - जैन-मान्यतानुसार जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थंकर का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक करते हैं।[२६]

३. दीक्षाकल्याणक - तीर्थंकर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं। वे एक वर्ष तक करोड़ों स्वर्णमुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा-तिथि के दिन देवेन्द्र अपने देवमंडल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण-महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ़ होकर वनखंड की ओर जाते हैं, जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पंचमुष्टिलोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थंकर स्वयं ही दीक्षित होता है, किसी गुरु के समीप नहीं।[२७]

४. कैवल्यकल्याणक - तीर्थंकर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य-ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमंडल आकर कैवल्य-महोत्सव मनाते हैं। उस समय देवता तीर्थंकर की धर्मसभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।[२८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **निर्वाणकल्याणक** - तीर्थंकर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर भी देवों द्वारा उनका दाहसंस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव मनाया जाता है।[२८]

इस प्रकार जैनपरम्परा में तीर्थंकरों के उपर्युक्त पंचकल्याणक माने गए हैं।

(ब) अतिशय

सामान्यतया जैनाचार्यों ने तीर्थंकरों के चार अतिशयों का उल्लेख किया है -[३०]

१. ज्ञानातिशय
२. वचनातिशय
३. अपायापगमातिशय
४. पूजातिशय

१. **ज्ञानातिशय** - केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता की उपलब्धि ही तीर्थंकर का ज्ञानातिशय माना गया है। दूसरे शब्दों में तीर्थंकर सर्वज्ञ होता है, वह सभी द्रव्यों की भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भावी पर्यायों का ज्ञाता होता है। दूसरे शब्दों में वह त्रिकालज्ञ होता है। तीर्थंकर का अनन्तज्ञान से युक्त होना ही ज्ञानातिशय है।

२. **वचनातिशय** - अबाधित और अखण्डनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन तीर्थंकर का वचनातिशय कहा गया है। प्रकारान्तर से वचनातिशय के ३५ उपविभाग किए गए हैं।

३. **अपायापगमातिशय** - समस्त मलों एवं दोषों से रहित होना अपायापगमातिशय है। तीर्थंकर को रागद्वेषादि १८ दोषों से रहित माना गया है।

४. **पूजातिशय** - देव और मनुष्यों द्वारा पूजित होना तीर्थंकर का पूजातिशय है। जैनपरम्परा के अनुसार तीर्थंकर को देवों एवं इन्द्रों द्वारा पूजनीय माना गया है।

तीर्थंकरों के अतिशयों को जैनाचार्यों ने निम्न तीन भागों में भी विभाजित किया है -

क. सहज अतिशय
ख. कर्मक्षयज अतिशय
ग. देवकृत अतिशय

उक्त तीन अतिशयों के चौंतीस उत्तरभेद किए गए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सहज अतिशय के चार, कर्मक्षयज अतिशय के ग्यारह और देवकृत अतिशय के उन्नीस भेद स्वीकार किए गए हैं।

(क) सहज अतिशय

१. सुन्दर रूप, सुगन्धित, नीरोग, पसीनारहित एवं मलरहित शरीर।
२. कमल के समान सुगन्धित श्वासोछ्वास।
३. गौ के दुग्ध के समान स्वच्छ, दुर्गन्धरहित माँस और रुधिर।
४. चर्मचक्षुओं से आहार और नीहार का न दिखना।

(ख) कर्मक्षयज अतिशय

१. योजन मात्र समवसरण में क्रोडाक्रोडी मनुष्य, देव और तिर्यञ्चों का समा जाना।
२. एक योजन तक फैलने वाली भगवान की अर्धमागधी वाणी को मनुष्य, तिर्यञ्च और देवताओं द्वारा अपनी-अपनी भाषा में समझ लेना।
३. सूर्यप्रभा से भी तेज सिर के पीछे प्रभामंडल का होना।
४. सौ योजन तक रोग का न रहना।
५. वैर का न रहना।
६. ईति अर्थात् धान्य आदि को नाश करने वाले चूहों आदि का अभाव।
७. महामारी आदि का न होना।
८. अतिवृष्टि न होना।
९. अनावृष्टि न होना।
१०. दुर्भिक्ष न पड़ना।
११. स्वचक्र और परचक्र का भय न होना।

(ग) देवकृत अतिशय

१. आकाश में धर्मचक्र का होना।
२. आकाश में चमरों का होना।
३. आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।
४. आकाश में तीन छत्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. आकाश में रत्नमय धर्मध्वज।
६. सुवर्ण कमलों पर चलना।
७. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन परकोटे।
८. चतुर्मुख उपदेश।
९. चैत्य वृक्ष।
१०. कण्टकों का अधोमुख होना।
११. वृक्षों का झुकना।
१२. दुन्दुभि बजना।
१३. अनुकूल वायु।
१४. पक्षियों का प्रदक्षिणा देना।
१५. गन्धोदक की वृष्टि।
१६. पाँच वर्णों के पुष्पों की वृष्टि।
१७. नख और केशों का नहीं बढ़ना।
१८. कम से कम एक कोटि देवों का पास में रहना।
१९. ऋतुओं का अनुकूल होना।

दिगम्बर परम्परानुसार १० सहज अतिशय, १० कर्मक्षयज अतिशय और १४ देवकृत अतिशय माने गए हैं।

समवायांगसूत्र में बुद्ध (तीर्थंकर) के निम्न चौबीस अतिशय या विशिष्ट गुण माने गए हैं[३१]। समवायांग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने बुद्ध शब्द का अर्थ तीर्थंकर किया है।[३२] समवायांग की इस सूची में पूर्वोक्त विविध वर्गीकरणों के उप-प्रकार समाहित हैं।

१. तीर्थंकरों के सिर के बाल, दाढ़ी तथा मूँछ एवं रोम और नख बढ़ते नहीं है, हमेशा एक ही स्थिति में रहते हैं।
२. उनका शरीर हमेशा रोग तथा मल से रहित होता है।
३. उनका माँस तथा खून गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण का होता है।
४. उनका श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है।
५. उनका आहार और नीहार (मूत्रपुरीषोत्सर्ग) दृष्टिगोचर नहीं होता।
६. वे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं।
७. उनके ऊपर तीन छत्र लटकते रहते हैं।
८. उनके दोनों ओर चमर लटकते हैं।
९. स्फटिकमणि के बने हुए पादपीठ सहित उनका स्वच्छ सिंहासन होता है।
१०. उनके आगे हमेशा अनेक लघुपताकाओं से वेष्टित एक इंद्रध्वज पताका चलती है।
११. जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवान ठहरते हैं अथवा बैठते हैं, वहाँ-वहाँ यक्षदेव सछत्र, सघट, सपताक तथा पत्र-पुष्पों से व्याप्त अशोक वृक्ष का निर्माण करते हैं।
१२. उनके मस्तक के पीछे दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला तेज-प्रभामंडल होता है।

साथ ही जहाँ भगवान का गमन होता है, वहाँ निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं -

१३. भूमिभाग समान तथा सुन्दर हो जाता है।
१४. कण्टक अधोमुख हो जाते हैं।
१५. ऋतुएँ सुखस्पर्श वाली हो जाती हैं।
१६. समवर्तक वायु के द्वारा एक योजन तक के क्षेत्र की शुद्धि हो जाती है।
१७. मेघ द्वारा उपचित बिन्दुपात से रज और रेणु का नाश हो जाता है।
१८. पंचवर्णवाला सुन्दर पुष्प-समुदाय प्रकट हो जाता है।
१९. (अ) भगवान् के आसपास का परिवेश अनेक प्रकार की धूप के धुँए से सुगन्धित हो जाता है।
(ब) अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का अभाव हो जाता है।
२०. (अ) भगवान के दोनों ओर आभूषणों से सुसज्जित यक्ष चमर डुलाते हैं।
(ब) मनोज्ञ शब्दादि का प्रादुर्भाव हो जाता है।
२१. उपदेश करने के लिए अरिहन्त भगवान् के मुख से एक योजन का उल्लंघन करने वाला हृदयंगम स्वर निकलता है।
२२. भगवान् का भाषण अर्द्धमागधी भाषा में होता है।
२३. भगवान् द्वारा प्रयुक्त भाषा, आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि समस्त प्राणिवर्ग की भाषा के रूप में परिवर्तित हो जाती है।
२४. बद्ध-वैर वाले देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, गंधर्व आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् के पादमूल में प्रशान्तचित्त होकर धर्म-श्रवण करते हैं।

२५. अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक (विद्वान्) भी भगवान को नमस्कार करते हैं।

२६. अन्य तीर्थवाले विद्वान् भगवान के पादमूल में आकर निरुत्तर हो जाते हैं।

साथ ही जहाँ भगवान् का विहार होता है, वहाँ पच्चीस योजन तक निम्न बातें नहीं होतीं –

२७ ईति अर्थात् धान्य को नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती।

२८. महामारी (संक्रामक बीमारी) नहीं होती।

२९. अपनी सेना उपद्रव नहीं करती।

३०. दूसरे राजा की सेना उपद्रव नहीं करती।

३१. अतिवृष्टि नहीं होती।

३२. अनावृष्टि नहीं होती।

३३. दुर्भिक्ष नहीं होता।

३४. भगवान् के विहार से पूर्व उत्पन्न हुई व्याधियाँ भी शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं और रुधिरवृष्टि तथा ज्वरादि का प्रकोप नहीं होता।

(स) वचनातिशय

जैन आगामों में पैंतीस वचनातिशयों के उल्लेख मिलते हैं[३३]। संस्कृत-टीकाकारों ने प्रकारान्तर से ग्रन्थों में प्रतिपादित वचन के पैंतीस गुणों का उल्लेख किया है। यही पैंतीस वचनातिशय कहलाते हैं, जो निम्नांकित हैं –

१. संस्कारत्व – वचनों का व्याकरण-सम्मत होना।

२. उदात्तत्व – उच्च स्वर से परिपूर्ण होना।

३. उपचारोपेतत्व – ग्रामीणता से रहित होना।

४. गम्भीरशब्दत्व – मेघ के समान गम्भीर शब्दों से युक्त होना।

५. अनुनादित्व – प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना।

६. दक्षिणत्व – वचनों का सरलता से युक्त होना।

७. उपनीतरागत्व – यथोचित् राग-रागिनी से युक्त होना।

उपर्युक्त अतिशय शब्द-सौंदर्य की अपेक्षा से जाने जाते हैं एवं शेष अतिशय अर्थ-गौरव की अपेक्षा से जाने जाते हैं।

८. महार्थत्व – वचनों का महान् अर्थ होना।

९. अव्याहतपौर्वापर्यत्व – पूर्वापर अविरोधी वाक्य वाला होना।

१०. शिष्टत्व – वक्ता की शिष्टता का सूचक होना।

११. असन्दिग्धत्व – सन्देहरहित निश्चित अर्थ का प्रतिपादक होना।

१२. अपहृतान्योत्तरत्व – अन्य पुरुषों के दोषों को दूर करने वाला होना।

१३. हृदयग्राहित्व – श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करने वाले वचन वाला होना।

१४. देश-कालाव्ययीतत्व – देशकाल के अनुकूल वचन होना।

१५. तत्त्वानुरूपत्व – विवक्षित वस्तुस्वरूप के अनुरूप वचन होना।

१६. अप्रकीर्णप्रसृतत्व – निरर्थक विस्तार से रहित सुसम्बद्ध वचन होना।

१७. अन्योन्यप्रगृहीतत्व – परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों एवं वाक्यों से युक्त होना।

१८. अभिजातत्व – वक्ता कुलीनता और शालीनता के सूचक होना।

१९. अतिस्निग्धमधुरत्व – अत्यन्त स्नेह एवं मधुरता से युक्त होना।

२०. अपरमर्मवेधित्व – मर्मवेधी न होना।

२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व – अर्थ और धर्म के अनुकूल होना।

२२. उदारत्व – तुच्छतारहित और उदारतायुक्त होना।

२३. परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व – पराई निंदा और अपनी प्रशंसा से रहित होना।

२४. उपगतश्लाघत्व – जिन्हें सुनकर लोग प्रशंसा करें, ऐसे वचन होना।

२५. अनपनीतत्व – काल, कारक, लिंग-व्यत्यय आदि व्याकरण के दोषों से रहित होना।

२६. उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्व – अपने विषय में श्रोताजनों में लगातार कौतूहल उत्पन्न करने वाला होना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. अद्भुतत्व – आश्चर्यजनक अद्भुत नवीनताप्रदर्शक वचन होना।

२८. अनतिविलम्बित्व – अतिविलम्ब से रहित धाराप्रवाह से बोलना।

२९. विभ्रमविक्षेपकिलकिञ्चितादिविमुक्तत्व – मन की भ्रान्ति, विक्षेप और रोष, भयादि से रहित वचन होना।

३०. अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्व – अनेक प्रकार से वर्णनीय वस्तु-स्वरूप के वर्णन करने वाले वचन होना।

३१. आहितविशेषत्व – सामान्य वचनों से कुछ विशेषतायुक्त वचन होना.

३२. साकारत्व – पृथक्-पृथक् वर्ण, पद, वाक्य के आकार से युक्त वचन होना।

३३. सत्वपरिगृहीत्व – साहस से परिपूर्ण वचन होना।

३४. अपरिखेदित्व – खेद-खिन्नता से रहित वचन होना।

३५. अव्युच्छेदित्व – विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि वाले वचन होना।

८. तीर्थंकर : निर्दोष व्यक्तित्व

जैन-परम्परा में तीर्थंकर को निम्नस्थ १८ दोषों से रहित माना गया है[३४] – १. दानान्तराय २. लाभान्तराय ३. वीर्यान्तराय ४. भोगान्तराय ५. उपभोगान्तराय ६. मिथ्यात्व ७. अज्ञान ८. अविरति ९. कामेच्छा १०. हास्य, ११. रति १२. अरति १३. शोक १४. भय १५. जुगुप्सा १६. राग १७. द्वेष और १८. निद्रा।

श्वेताम्बर-परम्परा में प्रकारान्तर से उन्हें निम्नांकित १८ दोषों से भी रहित कहा गया है :[३५]

१. हिंसा २. मृषावाद ३. चोरी ४. कामक्रीडा ५. हास्य ६. रति ७. अरति ८. शोक ९. भय १०. क्रोध ११. मान १२. माया १३. लोभ १४. मद १५. मत्सर १६. अज्ञान १७. निद्रा और १८. प्रेम।

दिगम्बर-परम्परा के ग्रंथ नियमसार में तीर्थंकर को निम्नांकित १८ दोषों से रहित कहा गया है[३६] –

१. क्षुधा २. तृषा ३. भय ४. रोष (क्रोध) ५. राग ६. मोह ७. चिन्ता ८. जरा ९. रोग १०. मृत्यु १२. स्वेद १२. खेद १३. मद १४. रति १५. विस्मय १६. निद्रा १७. जन्म १८. उद्वेग (अरति)।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में तीर्थंकरों को जिन दोषों से रहित माना गया है उनमें मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ दिगम्बर-परम्परा तीर्थंकर में क्षुधा और तृषा का अभाव मानती है, वहाँ श्वेताम्बर-परम्परा तीर्थंकर में इनका अभाव नहीं मानती है, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में केवली का कवलाहार (भोजन-ग्रहण) माना गया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती, उनके अनुसार केवली भोजन ग्रहण नहीं करता है। शेष बातों में दोनों में समानता है।

९. तीर्थंकर बनने की योग्यता

तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिए जीव को पूर्व जन्मों से विशिष्ट साधना करनी होती है। जैनधर्म में इस हेतु जिन विशिष्ट साधनाओं को आवश्यक माना गया है उनकी संख्या को लेकर जैनधर्म के सम्प्रदायों में मतभेद है। तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के आधार पर दिगम्बर सम्प्रदाय तीर्थंकर नामकर्म-उपार्जन हेतु निम्नस्थ सोलह बातों की साधना को आवश्यक मानता है[३७]–

१. दर्शनविशुद्धि – वीतरागकथित तत्त्वों में निर्मल और दृढ़ रुचि।

२. विनयसम्पन्नता – मोक्षमार्ग और उसके साधकों के प्रति समुचित आदरभाव।

३. शीलव्रतानतिचार – अहिंसा, सत्यादि मूलव्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियमों का प्रमाद - रहित होकर पालन करना।

४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग – तत्त्वविषयक ज्ञान-प्राप्ति में सदैव प्रयत्नशील रहना।

५. अभीक्ष्ण संवेग – सांसारिक भोगों से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दुःख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना।

६. यथाशक्ति त्याग – अपनी शक्त्यनुरूप आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान आदि विवेकपूर्वक करते रहना।

७. यशाशक्ति तप – शक्त्यनुरूप विवेकपूर्वक तप-साधना करना।

८. संघ-साधु-समाधिकरण – चतुर्विधसंघ और विशेषकर साधुओं को समाधि-सुख पहुँचाना अर्थात् ऐसा व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, जिससे उन्हें मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा न पहुँचे।

९. वैयाकृत्यकरण - गुणीजनों अथवा ऐसे लोगों की, जिन्हें सहायता की अपेक्षा है, सेवा करना।

१०-१३. चतु:भक्ति - अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना।

१४.आवश्यकापरिहाण - सामायिक आदि षडावश्यकों के अनुष्ठान सदैव करते रहना।

१५.मोक्षमार्ग-प्रभावना - अभिमान को त्यागकर मोक्षमार्ग की साधना करना तथा दूसरों को उस मार्ग का उपदेश देना।

१६. प्रवचनवात्सल्य - जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है, वैसे ही सहधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना।

श्वेताम्बर परम्परा में ज्ञाताधर्मकथा के आधार पर तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्नांकित (२०) बीस साधनाओं को आवश्यक माना गया है[३८] -

१-७. अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत एवं तपस्वी इन सातों के प्रति वात्सल्य-भाव रखना।

८. अनवरत ज्ञानाभ्यास करना।

९. जीवादि पदार्थों के प्रति यथार्थ श्रद्धारूप शुद्ध सम्यक्त्व का होना।

१०. गुरुजनों का आदर करना।

११.प्रायश्चित्त एवं प्रतिक्रमण द्वारा अपने अपराधों की क्षमायाचना करना।

१२. अहिंसादि व्रतों का अतिचार-रहित योग्य रीति से पालन करना।

१३. पापों की उपेक्षा करते हुए वैराग्यभाव धारण करना।

१४. बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करना।

१५. यथाशक्ति त्यागवृत्ति को अपनाना।

१६. साधुजनों की सेवा करना।

१७. समता भाव रखना।

१८. ज्ञान-शक्ति को निरंतर बढ़ाते रहना।

१९. आगमों में श्रद्धा रखना।

२०. जिन-प्रवचन का प्रकाश रखना।

१०. तीर्थंकरों से संबंधित विवरण का विकास

तीर्थंकरों की संख्या एवं उनके जीवनवृत्त आदि को लेकर सामान्यतया जैनसाहित्य में बहुत कुछ लिखा गया किन्तु यदि हम ग्रंथों पर कालक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो प्राचीनतम जैन-आगम आचारांग में महावीर के संक्षिप्त जीवनवृत्त को छोड़कर हमें अन्य तीर्थंकरों के संदर्भ में कोई जानकारी नहीं मिलती। यद्यपि आचारांग सामान्यरूप से भूतत्कालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यत्कालिक अरिहंतों का बिना किसी नाम के निर्देश अवश्य करता है। रचनाकाल की दृष्टि से इसके पश्चात् कल्पसूत्र का क्रम आता है, उसमें महावीर के जीवनवृत्त के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभदेव के संबंध में भी किंचित् विवरण मिलता है, शेष तीर्थंकरों का केवल नामनिर्देश ही है। इसके पश्चात् तीर्थंकरों के संबंध में जानकारी देने वाले ग्रंथों में समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति का काल आता है। समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति संक्षिप्त शैली में ही सही किन्तु वर्तमान, भूतकालिक और भविष्यत्कालिक तीर्थंकरों के संबंध में विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। दिगम्बर परम्परा में ऐसा ही विवरण यतिवृषभ की तिलोयपण्णति में मिलता है। श्वेताम्बर आगम-ग्रंथ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ऋषभ के संबंध में और ज्ञाताधर्मकथा मल्लि के संबंध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। तिलोयपण्णति के बाद दिगम्बर-परम्परा में पुराणों का क्रम आता है। पुराणों में तीर्थंकरों के जीवनवृत्त के संबंध में विपुल सामग्री उपलब्ध है। श्वेताम्बर-परम्परा में स्थानांग, समवायांग, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि, चउपन्नमहापुरिसचरियं एवं त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र और कल्पसूत्र पर लिखी गई परवर्ती टीकाएँ तीर्थंकरों -का विवरण देने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

समवायांग में उपलब्ध विवरण

ऐसा लगता है कि तीर्थंकर-संबंधी विवरणों में समय-समय पर वृद्धि होती रही है। हमारी जानकारी में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा और तत्संबंधी विवरण सर्वप्रथम श्वेताम्बर - परम्परा में समवायांग और विमलसूरि के पउमचरियं में प्राप्त होता है। यद्यपि स्थानांग एवं समवायांग की गणना अंग-आगमों में की जाती है किन्तु समवायांग में २४ तीर्थंकर संबंधी जो विवरण है, वह उसके परिशिष्ट के रूप में है और ऐसा लगता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि बाद में जोड़ा गया है। इस प्रकीर्णक समवाय में तीर्थंकरों के पिता, उनकी माता, उनके पूर्वभव, उनकी शिविकाओं के नाम, उनके जन्म एवं दीक्षा नगर का उल्लेख मिलता है। मान्यता यह है कि ऋषभ और अरिष्टनेमि को छोड़कर सभी तीर्थंकरों ने अपनी जन्मभूमि में दीक्षा ग्रहण की थी। सभी तीर्थंकर एक देवदुष्य वस्त्र लेकर दीक्षित हुए। इसके साथ-साथ प्रत्येक तीर्थंकर ने कितने व्यक्तियों को साथ लेकर दीक्षा ली, इसका भी उल्लेख इसमें मिलता है। इसी क्रम में समवायांग में दीक्षा लेते समय के व्रत, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा कब मिली इसका भी उल्लेख है। इसमें तीर्थंकरों के प्रथम शिष्य और शिष्याओं का भी उल्लेख है। समवायांग में सर्वप्रथम २४ तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों का भी उल्लेख हुआ है।

भगवती

अंग-आगमों के क्रम की दृष्टि से समवायांग के पश्चात् भगवतीसूत्र का क्रम आता है, यद्यपि स्मरण रखना होगा कि विद्वानों द्वारा रचनाकाल की दृष्टि से भगवती को समवायांग की अपेक्षा पूर्ववर्ती माना गया है। भगवतीसूत्र भगवान् महावीर के संबंध में समवायांग की अपेक्षा अधिक जानकारी प्रस्तुत करता है। इसमें देवानन्दा को महावीर की माता कहा गया है। महावीर और गोशालक के पारस्परिक संबंध को लेकर इसमें विस्तार के साथ चर्चा हुई है तथापि विद्वानों ने इस अंश को परवर्ती और प्रक्षिप्त माना है। भगवती में महावीर और जामालि के विवाद को भी स्पष्ट किया गया है, फिर भी इसमें महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के संबंध में नामों के उल्लेख के अतिरिक्त हमें विस्तार से कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। महावीर से पार्श्वापत्यों (पार्श्व के अनुयायियों) के मिलने एवं चर्चा करने का उल्लेख तो इसमें है किन्तु पार्श्व के जीवनवृत्त का भी अभाव ही है। इससे निश्चित ही ऐसा लगता है कि समवायांग के तीर्थंकर-संबंधी विवरण भगवती की अपेक्षा परवर्तीकाल के हैं।

ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा यद्यपि अन्य तीर्थंकरों के संबंध में तो विशेष सूचनाएँ नहीं देता है किन्तु ११वें तीर्थंकर मल्लि के संबंध में इसमें विस्तार से विवरण उपलब्ध है। संभवतः इतना विस्तृत विवरण अन्य किसी तीर्थंकर के संबंध में अंग-आगमों में उपलब्ध नहीं है। विद्वानों ने ज्ञाताधर्मकथा के इस मल्लि नामक अध्याय को अपेक्षाकृत परवर्तीकाल का माना है। इसमें मल्लि को स्त्री-तीर्थंकर मानकर श्वेताम्बर-परम्परा की स्त्रीमुक्ति की अवधारणा को पुष्ट किया गया है। इसी आधार पर कुछ दिगम्बर विद्वान् इसे श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के विभाजन के पश्चात् का मानते हैं। इसके मल्लि नामक अध्याय में ही तीर्थंकर-नाम-गोत्र-कर्म-उपार्जन की साधना-विधि का उल्लेख है। मल्लि संबंधी यह विवरण निश्चित ही समवायांग का समकालीन या अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती है।

अन्य अंग आगम

जहाँ तक उपासकदशा का प्रश्न है इसमें महावीर के काल के १० श्रावकों का विवरण है, इसी प्रसंग में महावीर के कुछ उपदेश भी इसमें उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु इसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का स्पष्ट रूप से कोई संकेत नहीं है। इसी प्रकार अंतकृद्दशा में यद्यपि महावीर और अरिष्टनेमि के काल के कुछ साधकों के विवरण मिलते हैं किन्तु इसमें अरिष्टनेमि और कृष्ण-संबंधी जो विवरण दिए गए हैं, वे लगभग ५वीं शताब्दी के पश्चात् के ही हैं, क्योंकि अंतकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु, जिसका विवरण स्थानांग में है, कृष्ण से संबंधित किसी विवरण का कोई संकेत नहीं देती है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान विषयवस्तु लगभग ७वीं शताब्दी के आसपास की है। यद्यपि इसमें तीर्थंकरों के प्रवचन आदि का उल्लेख है किन्तु स्पष्ट रूप से तीर्थंकरों के संबंध में कोई भी विवरण इसमें नहीं मिलता है। यही स्थिति औपपातिक और विपाकसूत्र की भी है।

उपांग आगम साहित्य

उपांग साहित्य में राजप्रश्नीयसूत्र में पार्श्वापत्य केशी का उल्लेख है किन्तु इसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा को लेकर विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। तीर्थंकरों के जीवनवृत्त की दृष्टि से उपांग साहित्य की जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को महत्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि इसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालचक्र का विवेचन करते हुए, उसमें होने वाले तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसमें द्वितीय और तृतीय वक्षस्कार अर्थात् अध्याय में क्रमशः ऋषभदेव एवं भरत के जीवनवृत्त का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमें ऋषभ के एक वर्ष तक चीवरधारी और बाद में नग्न होने की बात कही गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपांग-साहित्य के 'वृष्णीदशा' में कृष्ण के परिजनों से संबंधित उल्लेख हैं किन्तु तीर्थंकर की अवधारणा और तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों का इसमें भी अभाव है।

मूल आगम ग्रन्थ

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन, अपेक्षाकृत प्राचीन माना जाता है, इसमें केवल पार्श्व, महावीर, अरिष्टनेमि और नमि के संबंध में उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि इन उल्लेखों में उनके जीवनवृत्तों की अपेक्षा उसके उपदेशों और मान्यताओं पर ही अधिक बल दिया गया है, तथापि इतना निश्चित है कि उत्तराध्ययन के ये उल्लेख समवायांग की अपेक्षा प्राचीन हैं। उत्तराध्ययन के २२वें और २३वें अध्याय में क्रमशः अरिष्टनेमि और पार्श्व के संबंध में जानकारी उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन का २२वाँ रथनेमि नामक अध्याय यद्यपि मूलतः रथनेमि और राजीमती (राजुल) के घटना-प्रसंग को लेकर लिखा गया है किन्तु इस अध्याय में अरिष्टनेमि के विवाह-प्रसंग का भी उल्लेख है। २३वें अध्याय में मुख्य रूप से तीर्थंकर पार्श्व और महावीर की आचार-संबंधी विभिन्नताओं के उल्लेख मिलते हैं किन्तु उत्तराध्ययन में किसी तीर्थंकर का जीवनवृत्त नहीं दिया गया है। दशवैकालिक, अनुयोगद्वार और नन्दी में भी तीर्थंकरों के जीवनवृत्त नहीं हैं।

कल्पसूत्र

तीर्थंकरों के जीवनवृत्त को सूचित करने वाले आगामिक ग्रंथों में कल्पसूत्र महत्त्वपूर्ण है। कल्पसूत्र अपने आपमें कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। यह दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र का अष्टम अध्याय ही है किन्तु इसके जिनचरित्र नामक खण्ड में महावीर के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ के जीवनवृत्तों का भी संक्षिप्त विवरण मिलता है। अरिष्टनेमि से लेकर ऋषभ तक के बीच के तीर्थंकरों के नाम एवं उनके बीच की कालावधि का भी इसमें उल्लेख है।

निर्युक्ति एवं भाष्य

श्वेताम्बर-परम्परा के इन आगामिक ग्रंथों के अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य में भी तीर्थंकरों के संबंध में और उनके माता-पिता आदि के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में तीर्थंकरों के पूर्वभव का भी सांकेतिक उल्लेख हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति तीर्थंकरों की जन्मतिथि का भी निर्देश करती है। इसमें तीर्थंकरों के वर्षीदान का उल्लेख है साथ ही यह भी बताया गया है कि किस तीर्थंकर ने कौमार्य - अवस्था में दीक्षा ली और किसने बाद में। इसमें तीर्थंकरों के निर्वाण-तप तथा निर्वाण-तिथियों का भी उल्लेख मिलता है। तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई आदि का उल्लेख स्थानांग एवं समवायांग में भी उपलब्ध है किन्तु वह एकीकृत रूप में न होकर बिखरा हुआ है, जबकि आवश्यकनिर्युक्ति में उसे एकीकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। यथा - आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सभी तीर्थंकर स्वयं ही बोध प्राप्त करते हैं, लोकान्तिक देव तो उन्हें व्यवहार के कारण प्रतिबोधित करते हैं, सभी तीर्थंकर एक वर्ष तक दान देकर प्रव्रजित होते हैं। महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य को छोड़ अन्य सभी तीर्थंकरों ने राज्यलक्ष्मी का भोग करने के पश्चात् ही दीक्षा ली थी, जबकि अवशिष्ट पाँच कौमार्य-अवस्था में दीक्षित हुए थे। शान्ति, कुंथु और अर ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती थे, शेष सामान्य राजा। महावीर अकेले, पार्श्व और मल्लि ३०० व्यक्तियों, वासुपूज्य-६०० व्यक्तियों, ऋषभ-४००० व्यक्तियों एवं शेष सभी १००० व्यक्तियों के साथ दीक्षित हुए थे। सुमति ने बिना किसी व्रत के साथ दीक्षा ग्रहण की, वासुपूज्य ने उपवास के साथ दीक्षा ग्रहण की, पार्श्व और मल्लि ने ३ उपवास के साथ दीक्षा ली और शेष सभी ने २ दिन के उपवास के साथ दीक्षा ली। ऋषभ वनिता से, अरिष्टनेमि द्वारका से और अन्य अपनी-अपनी जन्मभूमि में दीक्षित हुए थे। ऋषभ ने सिद्धार्थवन में, वासुपूज्य ने विहारगृह (वन) में, धर्मनाथ ने वप्पग्राम में, मुनि सुमति ने नीलगुफा में, पार्श्व ने आम्रवन में, महावीर ने ज्ञातृवन में तथा शेष सभी तीर्थंकरों ने सहस्त्रआम्रवन में दीक्षा ग्रहण की। पार्श्व, अरिष्टनेमि, श्रेयांस, सुमति और मल्लि पूर्वाह्न में दीक्षित हुए। ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य भूमि में भी विहार किया, शेष सभी ने मगध, राजगृह आदि आर्य-भूमि में ही विहार किया।

प्रथम तीर्थंकर को १२ अंग और शेष को ११ अंग का श्रुतलाभ रहा। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने पंचयाम का और शेष ने चातुर्याम का उपदेश दिया। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर में सामायिक और छेदोस्थापनीय ऐसे दो चारित्रों का विकल्प होता है , जबकि शेष में सामायिक चारित्र ही होता है। इसमें २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों के केवलज्ञान की तिथियों, नक्षत्रों एवं स्थलों को भी दिया गया है। २३ तीर्थंकरों को पूर्वाह्न में और महावीर को अपराह्न में ज्ञान प्राप्त हुआ। ऋषभ को पुरिमताल में, महावीर को ऋजुपालिका नदी के किनारे और शेष ने जिस उद्यान में दीक्षा ली, उसी में केवल ज्ञान प्राप्त किया। पार्श्व, मल्लि और अरिष्टनेमि को तीन उपवास की तपस्या में, वासुपूज्य को एक उपवास में और शेष तीर्थंकरों को दो उपवास में ज्ञान प्राप्त हुआ।महावीर ने दूसरे समवसरण में तीर्थ की स्थापना की, जबकि शेष तीर्थंकरों ने प्रथम समवसरण में तीर्थ की स्थापना की। २४ तीर्थंकरों में से २३ तीर्थंकरों के, जितने गण थे, उतने ही गणधर भी थे, परन्तु महावीर के गणों की संख्या ९ एवं गणधरों की संख्या ११ थी। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति में २० तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, जन्मभूमि, वर्ण, प्रथम शिक्षादाता, प्रथम भिक्षास्थल, छद्मस्थ काल, श्रावक-संख्या, कुमार-काल, शरीर की ऊँचाई एवं आयुप्रमाण आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। आवश्यकचूर्णि में निर्युक्ति-विवरणों के अतिरिक्त महावीर और ऋषभ का जीवनवृत्त भी विस्तार से वर्णित है।

आगमेतर [illegible]-साहित्य

श्वेताम्बर परम्परा में २४ तीर्थंकरों के संबंध में विस्तृत जानकारी प्रदान करने वाले आगमेतर ग्रंथों में वसुदेवहिण्डी, विमलसूरि का पउमचरियं, शीलांक का चउप्पन्नमहापुरिसचरियं और हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र उल्लेखनीय है। इनमें वसुदेवहिण्डी और पउमचरियं का मुख्य विषय तीर्थंकर-चरित्र नहीं है।

श्वेताम्बर-परम्परा में तीर्थंकरों के जीवनवृत्त का विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रंथों में चउपन्नमहापुरिसचरियं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शीलांक की यह कृति लगभग ईसा की नवीं शताब्दी में लिखी गई है। संभवत: श्वेताम्बर-जैन-परम्परा में तीर्थंकरों का विस्तृत विवरण देने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। यद्यपि इसमें भी मुख्य रूप से तो ऋषभ, शान्ति, मल्लि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के कथानक विस्तार से वर्णित हैं शेष तीर्थंकरों के जीवनवृत्त तो सामान्यतया एक-दो पृष्ठों में ही समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् तीर्थंकरों के जीवनवृत्त का विवरण देने वाले ग्रंथों में हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चउप्पन्नमहापुरिसचरियं एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के पश्चात् तीर्थंकरों के जीवनवृत्त पर स्वतंत्र रूप से अनेक चरितकाव्य लिखे गए हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

दिगम्बर-आगम-ग्रन्थ

दिगम्बर-परम्परा के आगम-साहित्य में षट्खण्डागम, कषायपाहुड, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णति एवं आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथ समाहित हैं। इनमें मुख्य रूप से मूलाचार और भगवतीआराधना यथाप्रसंग तीर्थंकरों के संबंध में कुछ सूचनाएँ देते हैं किन्तु इनमें सुव्यवस्थति रूप से तीर्थंकरों से संबंधित विवरण उपलब्ध नहीं हैं। सर्वप्रथम हमें तिलोयपण्णति में तीर्थंकरों की अवधारणा एवं जीवन-संबंधी सूचनाएँ मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ति में तीर्थंकरों के नाम, च्यवनस्थल, पूर्वभव, माता-पिता का नाम, जन्मतिथि और नक्षत्र, कुलनाम (धर्मनाथ, अरहनाथ और कुंथुनाथ - कुरुवंश में, पार्श्वनाथ - उग्रवंश में, महावीर - ज्ञातृवंश में, मुनिसुमति एवं नेमिनाथ - यादववंश में और शेष इक्ष्वाकुवंश में हुए हैं) जन्मकाल, आयु, कुमार-काल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्यकाल, चिह्न, वैराग्य के कारण, दीक्षास्थल, (नेमिनाथ द्वारका और शेष अपने जन्म स्थान), दीक्षातिथि, दीक्षाकाल, दीक्षातप, प्रथम भिक्षा में मिले पदार्थ, छद्मस्थकाल, केवल ज्ञान (तिथि, नक्षत्र और स्थल), समवसरण का रचनाविन्यास, किसी वृक्ष के नीचे हुए केवल ज्ञान, उत्पन्नत यक्ष-यक्षिणी, कैवल्यकाल, गणधरों की संख्या, साधु-साध्वियों की संख्या, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी और वैकिय ऋद्धिधारक एवं वादियों की संख्या, प्रमुख आर्यिकाएँ, निर्वाणतिथि, नक्षत्र, स्थल, तीर्थंकरों का शासनकाल, तीर्थंकरों का अन्तराल आदि का विवरण सुव्यवस्थित रूप से उपलब्ध है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तिलोयपण्णति की विवरणशैली आवश्यकनिर्युक्ति के समान है। इसमें आवश्यकनिर्युक्ति के समान ही तीर्थंकरों के माता-पिता आदि का विवरण मिलता है। यद्यपि यह आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा परवर्ती है।

पुराण-साहित्य

यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में तीर्थंकरों के जीवनवृत्त को बताने वाले आगमिक साहित्य का अभाव है किन्तु उसमें पुराणों के रूप में अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं, इनमें तीर्थंकरों के जीवनवृत्त विस्तार से वर्णित हैं। इन पुराणों में जिनसेन और गुणभद्र की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति महापुराण प्रसिद्ध है। इसका पूर्वभाग आदिपुराण और शेष भाग उत्तरपुराण के नाम से भी जाना जाता है। आदिपुराण में ऋषभ का और उत्तरपुराण में शेष सभी तीर्थंकरों का वर्णन है। दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित पुराण-ग्रंथ अनेक हैं, किन्तु यहाँ उन सबकी चर्चा करना संभव नहीं है।

जैनसाहित्य में उपलब्ध तीर्थंकर की अवधारणा का सर्वेक्षण

तीर्थंकर की अवधारणा के संबंध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक ऐसा कोई भी साहित्य हमें उपलब्ध नहीं होता है कि जिसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का विकसित रूप उपलब्ध होता हो। संभवतः सर्वप्रथम ईसा पूर्व तीसरी, दूसरी शताब्दी से हमें तीर्थंकरों की अवधारणा में अलौकिकता संबंधी कुछ विवरण उपलब्ध होते हैं किन्तु व्यवस्थित रूप से २४ तीर्थंकरों की कल्पना का कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं होता है। हमें ऐसा लगता है कि जैन-परम्परा में २४ तीर्थंकरों की सुव्यवस्थित अवधारणा और उनका नामकरण ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास ही हुआ होगा, यद्यपि २४ तीर्थंकरों के नामोल्लेख करने वाले विवरण भगवती, समवायांग आदि में उपलब्ध हैं किन्तु विद्वान् इन्हें ईसा की प्रथम शताब्दी या इनके परवर्तीकाल का ही मानते है। यदि हम अन्य तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों को एक ओर रख दें, तो भी स्वयं महावीर के जीवनवृत्त में एक विकास देखा जा सकता है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधान नामक नौवें अध्याय में वर्णित महावीर का चरित्र, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के वीरस्तव नामक षष्ठ अध्याय में कुछ विकसित हुआ है। फिर वह कल्पसूत्र में हमें अधिक विकसित रूप में मिलता है। कल्पसूत्र की अपेक्षा भी आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५वें अध्याय में वर्णित महावीरचरित्र अधिक विकसित है, ऐसा डॉ. सागरमल जैन की मान्यता है। उनकी मान्यता का आधार कल्पसूत्र की अपेक्षा आचारांग के महावीरचरित्र में अधिक अलौकिक तत्त्वों का समावेश है। भगवतीसूत्र में महावीर के जीवनवृत्त से संबंधित कुछ घटनाएँ, उल्लेखित हैं यथा - देवानंदा, जामालि तथा गोशालक-संबंधी घटनाएँ उसमें गोशालक संबंधी विवरण को जैन-विद्वानों ने प्रक्षिप्त एवं परवर्ती माना है। आवश्यकनिर्युक्ति यद्यपि कल्पसूत्र की अपेक्षा महावीर का जीवनवृत्त विस्तार से उल्लेखित नहीं करती है, फिर भी २४ तीर्थंकरों-संबंधी सुव्यवस्थित जो वर्णन उसमें मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि इसकी रचना कल्पसूत्र की अपेक्षा परवर्तीकाल की है। इतना निश्चित है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से २४ तीर्थंकरों की सुव्यवस्थित अवधारणा उपलब्ध होने लगती है। यद्यपि तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों का विकास बाद में भी हुआ। संभवतः ईसा की ७वीं शताब्दी में सर्वप्रथम तीर्थंकरों के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त लिखने के प्रयत्न किए गए, संभव है तत्संबंधित कुछ अवधारणाएँ पूर्व में भी प्रचलित रही हों। आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) महावीर और ऋषभ का विस्तृत विवरण देती है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में लगभग ईसा की ९वीं शताब्दी से ही हमें २४ तीर्थंकरों के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त मिलने लगते हैं। यद्यपि इस काल के लेखकों के सामने कुछ पूर्व परम्पराएँ अवश्य रही होंगी, जिस आधार पर उन्होंने इन चरित्रों का विकास किया। वस्तुतः ईसा की दूसरी शताब्दी से ९वीं शताब्दी के बीच का काल ही ऐसा है, जिसमें २४ तीर्थंकरों-संबंधी अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ। आश्चर्यजनक यह है कि बौद्ध परम्परा में २४ बुद्धों और हिन्दू - परम्परा के २४ अवतारों और उनके जीवनवृत्तों को भी सुव्यवस्थित रूप इसी काल में दिया गया है जो तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू-परम्परा में अवतार की अव्यवस्थित अवधारणा हमें भागवतपुराण में मिलती है। इतिहासविदों ने भागवतपुराण का काल लगभग ९वीं शताब्दी माना है, यही काल शीलांक के चउपन्नमहापुरिसचरियं एवं दिगम्बर-परम्परा के महापुराण आदि का है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि २४ तीर्थंकरों, २४ बुद्धों और २४ अवतारों की अवधारणा कालक्रम से विकसित होकर सुनिश्चित हुई है। इसी प्रसंग में अतीत एवं अनागत तीर्थंकरों और बुद्धों की कल्पना विकसित हुई, जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

अब हम ग्रंथ की सीमा को देखते हुए भूतकालीन और आगामी तीर्थंकरों के नाम निर्देश के साथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीर्थंकरों के जीवनवृत्त के संबंध में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों की संख्या - वर्तमान, अतीत और अनागत काल के तीर्थंकर

यद्यपि भागवत में विष्णु के अनन्त अवतार बताए गए हैं[३९] फिर भी वैष्णवों में चौबीस अवतार की अवधारणा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार जैन-ग्रंथ महापुराण में यद्यपि भूत और भविष्य की अनन्त चौबीसियों के आधार पर अनन्त जिनों की कल्पना की गई है।[४०] फिर भी जैनों में चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा ही अधिक प्रचलति रही है तथा विविध क्षेत्रों और कालों की अपेक्षा से अनन्त चौबीसियों की कल्पना की गई।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में वर्तमान अवसर्पिणी-काल के चौबीस तीर्थंकर इस प्रकार है[४१] –

१. ऋषभ २. अजित ३. संभव ४. अभिनन्दन ५. सुमति ६. पद्मप्रभ ७. सुपार्श्व ८. चन्द्रप्रभ ९. सुविधि-पुष्पदन्त १०. शीतल ११. श्रेयांस १२. वासुपूज्य १३. विमल १४. अनंत १५. धर्म १६. शान्ति १७. कुन्थु १८. अर ११. मल्लि २०. मुनिसुव्रत २१. नमि २२. नेमि २३. पार्श्व और २४. वर्धमान।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के वर्तमान अवसर्पिणी-काल में निम्नांकित चौबीस तीर्थंकर[४२] हुए हैं –

१. सुचन्द्र २. अग्निसेन ३. नन्दिसेन ४. ऋषिदत्त ५. सोमचन्द्र ६. युक्तिसेन ७. अजितसेन ८. शिवसेन ९. बुद्ध १०. देवशर्म ११. निक्षिप्तशस्त्र (श्रेयांस) १२. असंज्वल १३. जिनवृषभ १४. अमितज्ञानी अनन्त १५. उपशान्त १६. गुप्तिसेन १७. अतिपार्श्व १८. सुपार्श्व १९. मरुदेव २०. धर २१. श्यामकोष्ठ २२. अग्निसेन २३. अग्निपुत्र २४. वारिषेण।

समवायांग में तो जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में उत्सर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरों का विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु प्रवचनसारोद्धार में निम्नांकित २४ तीर्थंकरों का विवरण उपलब्ध होता है[४३] –

१. केवलज्ञानी २. निर्वाणी ३. सागरजिन ४. महायश ५. विमल ६. नाथसुतेज (सर्वानुभूति) ७. श्रीधर ८. दत्त ९. दामोदर १०. सुतेज ११. स्वामिजिन १२. शिवाशी (मुनिसुव्रत) १३. सुमति १४. शिवगति १५. अवाध (अस्ताग) १६. नाथनेमीश्वर १७. अनिल १८. यशोधर १९. जिनकृतार्थ २०. धर्मीश्वर (जिनेश्वर) २१. शुद्धमति २२. शिवकरजिन २३. स्यन्दन २४. सम्प्रतिजिन।

दिगम्बर-ग्रंथ जपसेनप्रतिष्ठापाठ के नामों में कुछ भिन्नता है, उसमें इन २४ तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है[४४] –

१. निर्वाण २. सागर ३. महासाधु ४. विमलप्रभ ५. शुद्धाभदेव ६. श्रीधर ७. श्रीदत्त ८. सिद्धाभदेव ९. अमलप्रभ १०. उद्धारदेव ११. अग्निदेव १२. संयम १३. शिव १४. पुष्पांजलि १५. उत्साह १६. परमेश्वर १७. ज्ञानेश्वर १८. विमलेश्वर १९. यशोधर २०. कृष्णमति २१. ज्ञानमति २२. शुद्धमति २३. श्रीभद्र २४. अनन्तवीर्य।

श्वेताम्बरग्रंथ प्रवचनसारोद्धार और दिगम्बरग्रंथ जयसेनप्रतिष्ठापाठ में भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणी-काल के अतीत तीर्थंकरों - निर्वाण, सागर जिन, विमल, श्रीधर, दत्त, शिवगति, शुद्धमति के नामों में समानता दिखाई देती है एवं अन्य तीर्थंकरों के नामों में दोनों ग्रंथों में भिन्नता है।

ऐरावत क्षेत्र के अवसर्पिणी-काल के अतीत तीर्थंकरों के संबंध में हमें कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी-काल में होने वाले चौबीस तीर्थंकर[४५] ये हैं –

१. महापद्म २. सूरदेव ३. सुपार्श्व ४. स्वयंप्रभ ५. सर्वानुभूति ६. देवश्रुत ७. उदय ८. पेढालपुत्र ९. प्रोष्ठिल १०. शतकीर्ति ११. मुनिसुव्रत १२. सर्वभाववित १३. अमम १४. निष्कषाय १५. निष्पुलाक १६. निर्मम १७. चित्रगुप्त १८. समाधिगुप्त १९. संवर २०. अनिवृत्ति २१. विजय २२. विमल २३. देवोपपात और २४. अनन्तविजय।

उपर्युक्त तीर्थंकर आगामी उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में धर्मतीर्थ की देशना करेंगे।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर होंगे[४६]–

१. सुमंगल २. सिद्धार्थ ३. निर्वाण ४. महायश ५. धर्मध्वज ६. श्रीचन्द्र ७. पुष्पकेतु ८. महाचन्द्र केवली ९. सुतसागर अर्हन् १०. सिद्धार्थ ११. पूर्णघोष १२. महाघोष केवली १३. सत्यसेन अर्हन् १४. सूरसेन अर्हन् १५. महासेन केवली १६. सर्वानन्द १७. देवपुत्र अर्हन् १८. सुपार्श्व १९. सुव्रत अर्हन् २०. सुकोशल अर्हन् २१. अनन्तविजय अर्हन् २२. विमल अर्हन् २३. महाबल अर्हन् और २४. देवानन्द अर्हन् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त चौबीस तीर्थंकर ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में धर्मतीर्थ की देशना करने वाले होंगे ।

जिस प्रकार बौद्धों में सुखावतीव्यूह में सदैव बुद्धों की उपस्थिति मानी गई है उसी प्रकार जैनों में महाविदेह क्षेत्र में सदैव बीस तीर्थंकरों की उपस्थिति मानी है। यद्यपि इनमें से प्रत्येक तीर्थंकर अपनी आयु मर्यादा पूर्ण होने पर सिद्ध हो जाता है अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु जिस समय वह निर्वाण प्राप्त करता है, उस समय उसी नाम का दूसरा तीर्थंकर कैवल्य प्राप्तकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार क्रम सदा चलता रहता है। महाविदेह क्षेत्र के बीस तीर्थंकर निम्नलिखित हैं-[४७]

१. सीमन्धर २. युगन्धर ३. बाहु ४. सुबाहु ५. संजात ६. स्वयंप्रभ ७. ऋषभानन ८. अनन्तवीर्य ९. सूरिप्रभ १०. विशालप्रभ ११. वज्रंधर १२. चन्द्रानन १३. चन्द्रबाहु १४. भुजंगम १५. ईश्वर १६. नेमिप्रभु १७. वीरसेन १८. महाभद्र १९. देवयश २०. अजितवीर्य।

जैनों की कल्पना है कि समस्त मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ अधिकतम १७० और न्यूनतम २० तीर्थंकर सदैव वर्तमान रहते हैं[४८]। इन न्यूनतम और अधिकतम संख्या का अतिक्रमण नहीं होता, फिर भी एक तीर्थंकर का दूसरे तीर्थंकर से कभी मिलाप नहीं होता।

१. ऋषभदेव

ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं।[४९] इनके पिता नाभि और इनकी माता मरुदेवी थीं।[५०] ये इक्ष्वाकु कुल के काश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्मस्थान कोशल जनपद के अयोध्या नगर में माना जाता है। इनकी दो पत्नियाँ थीं – सुनन्दा और सुमंगला। भरत, बाहुबलि आदि उनके १०० पुत्र और ब्राह्मी-सुन्दरी दो पुत्रियाँ थीं[५१]।

ऋषभदेव उस काल में उत्पन्न हुए थे, जब मनुष्य प्राकृतिक जीवन से निकलकर ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में प्रवेश कर रहा था। माना जाता है कि ऋषभदेव ने पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं की शिक्षा दी थी, उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान तथा सुन्दरी को गणित विषय में पारंगत बनाया था। जैन-मान्यता के अनुसार असि (सैन्यकर्म), मसि (वाणिज्य) और कृषि को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी ऋषभदेव को है। इस प्रकार इन्हें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष माना जाता है। यह भी मान्यता है कि इन्होंने सामाजिक जीवन में सर्वप्रथम योगलिक परम्परा को समाप्त कर विवाह की परम्परा स्थापित की थी। परम्परागत मान्यता के अनुसार इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष और आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष मानी गई है। ये ८३ लाख पूर्व वर्ष सांसारिक अवस्था में रहे और इन्होंने १/२ लाख पूर्व वर्ष तक संयम का पालन किया। अपने जीवन की संध्यावेला में इन्होंने चार हजार लोगों के साथ संन्यास लिया। इन्हें एक वर्ष के कठोर तप की साधना के पश्चात् पुरिमताल उद्यान में बोधि प्राप्त हुई थी। जैनों की ऐसी मान्यता है कि ऋषभदेव के साथ संन्यास धर्म को अंगीकार करने वाले अधिकांश व्यक्ति उनके समान कठोर आचरण का पालन न कर पाए और परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी-अपनी सुविधाओं के अनुसार विभिन्न श्रमण-परम्पराओं को जन्म दिया। उनके पौत्र मारीचि द्वारा त्रिदंडी संन्यासियों की परम्परा प्रारंभ हुई। जैनों की मान्यता है कि ऋषभदेव के संघ में ८४ गणों में विभक्त ८४ गणधरों के अधीन ८४ हजार श्रमण थे, ब्राह्मी प्रमुख तीन लाख आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख पचास हजार श्रावक और पाँच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थीं।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में ऋषभदेव के १२ पूर्व भवों का उल्लेख है। इसके साथ ही साथ उसमें उनके जन्म-महोत्सव, नामकरण, रूप-यौवन, विवाह, गृहस्थजीवन, सन्तानोत्पत्ति, राज्याभिषेक, कलाओं की शिक्षा, वैराग्य, गृहत्याग और दीक्षा, साधनाकाल के उपसर्ग, इक्षुरस से पारण, केवलज्ञान, समवसरण, संघस्थापना और उपदेश आदि का विस्तार से वर्णन है।

ऋषभदेव का उल्लेख अन्य परम्पराओं में भी मिलता है। वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर पुराणों तक इनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में अनेक रूपों में इनकी स्तुति की गई है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद में वर्णित ऋषभदेव वही हैं, जो जैनों के प्रथम तीर्थंकर हैं, क्योंकि इनके पक्ष एवं विपक्ष में विद्वानों ने अपने तर्क दिए हैं। तांड्य ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भारत का उल्लेख है।[५३] उत्तरकालीन हिन्दू-परम्परा के ग्रंथों श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुड़पुराण, विष्णुपुराण और स्कन्दपुराण में भी ऋषभदेव के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मिलते हैं।[५४] श्रीमद्भागवत और परवर्ती पुराणों में से अधिकांश में ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध है, जो जैन-परम्परा से बहुत साम्य रखता है।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के सूत्र १३६/२ में वातरशना शब्द का प्रयोग हुआ है।[५५] व्युत्पत्ति की दृष्टि से वातरशन शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं - (१) वात+अशन अर्थात् वायु ही जिनका भोजन है, उन्हें वातरशन कहा जा सकता है। (२) वात+रशन रशन वेष्ठन परिचायक वस्तु ही जिनका वस्त्र है इस दृष्टि से यह नग्न मुनि का परिचायक हो सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वातरशना का अर्थ नग्न होता है। जैनाचार्य जिनसेन ने वातरशना का अर्थ दिगम्बर किया है और उसे ऋषभदेव का विशेषण बताया है। सायण ने वातरशना का अर्थ वातरशन का पुत्र किया है किन्तु उसका अर्थ वातरशन के अनुयायी करना अधिक उचित है, क्योंकि श्रीमद्भागवत में भी यह कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणों के धर्म का उपदेश दिया । जैन पुराण श्रीमद्भागवत में वातरशना को जो ऋषभदेव के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, समुचित तो प्रतीत होता ही है, साथ ही यह भी सूचित करता है कि ऋग्वैदिक काल में ऋषभ की परम्परा प्रचलित थी।

ऋग्वेद में 'शिश्नदेवा' शब्द आया है। 'शिश्नदेव' के ऋग्वेद में दो उल्लेख हैं - प्रथम (७/२१/५) में तो कहा गया है कि वे हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें और दूसरे (१०/९९/३) में इन्द्र द्वारा शिश्नदेवों को मारकर शतद्वारों वाले दुर्ग की निधि पर कब्जा करने का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शिश्नदेव (नग्नदेव) के पूजक वैदिक परम्परा के विरोधी और आर्थिक दृष्टि से संपन्न थे। शिश्नदेवा के दो अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ है शिश्न को देवता मानने वाले, दूसरा शिश्नयुक्त अर्थात् नग्न देवता को पूजने वाले। इन दोनों अर्थों में से भले ही किसी भी अर्थ को ग्रहण करें किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट है कि ऋग्वेद के काल में एक परम्परा थी, जो नग्न देवताओं की पूजा करती थी और यह भी सत्य है कि ऋषभ की परम्परा नग्न श्रमणों की परम्परा थी।

ऋग्वेद में केशी की स्तुति किए जाने का उल्लेख मिलता है। केशी साधनायुक्त कहे गए हैं तथा अग्नि, जल, पृथ्वी और स्वर्ग को धारण करते हैं। साथ ही सम्पूर्ण विश्व के तत्त्वों का दर्शन करते हैं और उनकी ज्ञानज्योति मात्र ज्ञानरूप ही है।[५६] ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है।[५७] श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव के केशधारी अवधूत के रूप में परिभ्रमण करने का उल्लेख मिलता है[५८]। जैनमूर्तिकला में भी ऋषभदेव के वक्रकेशों की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से पायी जाती है। तीर्थंकरों में मात्र ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल (वक्र) केश देखने को मिलते हैं, जो कि उनका एक लक्षण माना जाता है। पद्मपुराण[५९] एवं हरिवंशपुराण[६०] में भी उनकी लंबी जटाओं के उल्लेख पाए जाते हैं। अतः उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋषभदेव का ही दूसरा नाम 'केशी' रहा होगा।

पुरातात्त्विक स्रोतों से भी ऋषभदेव के बारे में सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। डॉ. राखलदास बनर्जी द्वारा सिन्धुघाटी की सभ्यता की खोज में प्राप्त सील (मुहर) सं. ४४९ पर चित्रलिपि में कुछ लिखा हुआ है। इसे श्री प्राणनाथ विद्यालंकार ने जिनेश्वरः 'जिन-इ-इ-सरः' पढ़ा है। रामबहादुर चन्दा का कहना है कि सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरों में एक मूर्ति मथुरा के ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति के समान त्याग और वैराग्य के भाव प्रदर्शित करती है। इस सील में जो मूर्ति उत्कीर्ण है उसमें वैराग्य भाव तो स्पष्ट है ही, साथ ही साथ उसके नीचे के भाग में ऋषभदेव के प्रतीक बैल का सद्भाव भी है।[६१]

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने सिन्धु-सभ्यता का अध्ययन करते हुए लिखा कि फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कार्यात्सर्ग मुद्रा में खड्गासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों से विशेष रूप से मिलती है। जैसे - मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति। मुहर संख्या एफ.जी.एच. फलक दो पर अंकित देवमूर्ति एक बैल ही बना है। संभव है कि यह ऋषभ का प्रतीक रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैव-धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धुसभ्यता तक चला जाता है।[६२]

डॉ. विंसेन्ट ए. स्मिथ का कहना है कि मथुरा-संबंधी खोजों से यह फलित होता है कि जैन-धर्म के तीर्थंकरों की अवधारणा ई. सन् के पूर्व में विद्यमान थी। ऋषभादि २४ तीर्थंकरों की मान्यता सुदूर प्राचीनकाल में पूर्णतया प्रचलित थी।[६३] इस प्रकार ऋषभदेव की प्राचीनता इतिहास के साहित्यिक एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरातात्त्विक दोनों साक्ष्यों से सिद्ध है। डॉ. एन.एन. बसु का मन्तव्य है कि ब्राह्मीलिपि का प्रथम आविष्कार संभवतः ऋषभदेव ने ही किया था। अपनी पुत्री के नाम पर इसका ब्राह्मी नाम रखा। भागवत में वे विष्णु के अष्टम अवतार के रूप में प्रख्यात हुए हैं।[६४]

ऋषभ और शिव

सिन्धु घाटी में मिली मूर्तियों और सीलों की देवमूर्ति का समीकरण चाहे हम शिव से करें या ऋषभ से करें बहुत अंतर नहीं है। ऋषभ और शिव के संदर्भ में जो कथाएँ मिलती हैं, उनसे इतना स्पष्ट होता है कि दोनों वैदिक कर्म-काण्ड के विरोधी थे। दिगम्बर-विद्वान पं. कैलाशचन्द्रजी ने शिव और वृषभ में समीकरण खोजने का प्रयत्न किया है।

महाभारत में महादेव के नामों में शिव और ऋषभ दोनों का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के १५वें व्रात्य नामक काण्ड में एकव्रात्य को महादेव भी कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि व्रात्यों, वातरशना मुनियों और शिश्नदेवों की कोई एक परम्परा थी, जो वैदिक काल में भी प्रचलित थी और यह परम्परा निश्चित ही वेद-विरोधी श्रमण-धारा की थी। व्रात्य शब्द का अर्थ भी व्रतों का पालन करने वाला, त्यागी या घुमक्कड़ होता है। ये सभी बातें श्रमणों में पाई जाती हैं। पुनः अथर्ववेद में व्रात्यों को मागध कहा गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे श्रमण परम्परा के ही लोग थे। यह सुनिश्चित सत्य है कि मगध श्रमणों का केन्द्र स्थल था। इन सब आधारों पर ऐसा लगता है कि श्रमणों की यही परम्परा विकसित होकर हिन्दू धर्म में शैवों अर्थात् शिव के उपासकों के रूप में और श्रमण-परम्परा में ऋषभ के अनुयायियों के रूप में विकसित हुई। हिन्दू-पुराणों में मार्कण्डेय पुराण, कूर्म पुराण, अग्नि पुराण, वायु पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्मांड पुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द पुराण और श्रीमद्भागवत में जो ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है, उससे इतना तो निश्चित ही सिद्ध हो जाता है कि ऋषभ निश्चित ही एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

जैनपरम्परा में ऋषभदेव की मूर्तियाँ तथा पूजा के प्रमाण हमें ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी से मिलने लगते हैं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ईसा पूर्व में भी ऋषभदेव जैनपरम्परा के तीर्थंकर माने जाते थे।

जैन और वैदिक परम्परा में प्राचीनकाल से ही उनकी उपस्थिति का जो संकेत मिलता है, वह इस बात का भी सूचक है कि वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर तथा पार्श्व के पूर्व उनकी श्रमण-परम्परा जीवित थी। संभव है कि महावीर के सम्मुख ऋषभ और पार्श्व दोनों की परम्परा जीवित रही हो तथा महावीर ने पार्श्व की परम्परा की अपेक्षा ऋषभ की परम्परा को अधिक महत्त्व दिया हो।

आज हमारे पास आजीवक सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी इतना निश्चित है कि आजीवकों की परम्परा महावीर और गोशालक के पूर्व भी प्रचलति थी, संभव है कि आजीवकों की यह परम्परा ऋषभ की परम्परा रही हो। परवर्ती जैन-ग्रंथों में यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के धर्म में समानता होती है, वह आकस्मिक नहीं है। तार्किक आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि महावीर ने पार्श्व की परम्परा की अपेक्षा आजीवकों के रूप में जीवित ऋषभ की नग्नतावादी परम्परा को ही प्राथमिकता दी और स्वीकार किया।

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि पं. कैलाशचन्द्रजी आदि कुछ जैन-विद्वानों ने इन सब उल्लेखों के आधार पर ऋषभ एक ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है और उनकी समरूपता शिव के साथ भी स्थापित की गई है। जिसके आधार निम्नलिखित हैं -

प्रथम तो ऋषभ और शिव दोनों ही दिगम्बर हैं। शिव का वाहन नन्दी (वृषभ) है, तो वृषभ का लांछन भी वृषभ है। दोनों ध्यान, साधना और योग के प्रवर्तक माने जाते हैं।[६५] जहाँ शिव को कैलाशवासी माना गया है, वहाँ ऋषभ का निर्वाण भी कैलाश पर्वत (अष्टापद) पर बताया गया है। इसी प्रकार दोनों वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी, निवृत्तिमार्गी और ध्यान एवं योग के प्रस्तोता हैं। यद्यपि दोनों में बहुत कुछ समानताएँ खोजी जा सकती हैं, फिर भी परवर्ती साहित्य में वर्णित दोनों के जीवनवृत्तों के आधार पर आज यह कहना कठिन ही है कि वे अभिन्न व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति हैं; परन्तु इस समग्र चर्चा से इतना निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि ऋषभ को भारतीय समाज और संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यही कारण है कि हिन्दू-परम्परा उन्हें भगवान् के चौबीस अवतारों में प्रथम मानवीय अवतार के रूप में स्वीकार करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध-साहित्य में धम्मपद में 'उसभं परवं वीरं' (४२२) के रूप में ऋषभ का उल्लेख है, यद्यपि यह शब्द ब्राह्मण का एक विशेषण है अथवा ऋषभ नामक तीर्थंकर को सूचित करता है, यह विवादास्पद ही है। मञ्जुश्रीमूलकल्प में भी नाभिपुत्र ऋषभ और उनके पुत्र भरत का उल्लेख उपलब्ध है।[६६]

२. अजित

अजित जैन-परम्परा के दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं।[६७] इनके पिता का नाम जितशत्रु और माता का नाम विजया था तथा इनका जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।[६८] इनका शरीर ४०० धनुष ऊँचा और काञ्चन वर्ण बताया गया है।[६९] इन्होंने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण में संन्यास ग्रहण कर १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।[७०] अपनी ७२ लाख पूर्व वर्ष की सर्व आयु में इन्होंने ७१ लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ धर्म और १ लाख पूर्व वर्ष संन्यास धर्म का पालन किया।[७१] इनके संघ में १ लाख मुनि और ३ लाख ३० हजार साध्वियाँ थीं।[७२] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके पूर्वभवों का उल्लेख है और इन्हें सागर चक्रवर्ती का चचेरा भाई बताया गया है।

बौद्ध-परम्परा में अजित थेर का नाम मिलता है किन्तु इनकी तीर्थंकर अजित से कोई समानता परिलक्षित नहीं होती है। इसी प्रकार बुद्ध के समकालीन तीर्थंकर कहे जाने वाले ६ व्यक्तियों में एक अजितकेशकम्बल भी हैं किन्तु ये महावीर के समकालीन हैं, जबकि दूसरे तीर्थंकर अजित महावीर के बहुत पहले हो चुके हैं। डॉ. राधाकृष्णन की सूचनानुसार ऋग्वेद में भी अजित का नाम आता है - ये प्राचीन हैं अतः इनकी तीर्थंकर अजित से एकरूपता की कल्पना की जा सकती है किन्तु यहाँ भी मात्र नाम की एकरूपता के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

३. संभव

संभव वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे तीर्थंकर माने गए हैं।[७३] इनके पिता का नाम जितारि एवं माता का नाम सेनादेवी था तथा इनका जन्म-स्थान श्रावस्ती नगर माना गया है।[७४] इनके शरीर की ऊँचाई ४०० धनुष, वर्ण काञ्चन और आयु ६० लाख पूर्व वर्ष मानी गई है।[७५] इन्होंने भी अपने जीवन की संध्या-वेला में संन्यास ग्रहण किया और १४ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् साल वृक्ष के नीचे इन्हें केवज्ञान प्राप्त हुआ।[७६] इन्होंने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[७७] इनकी शिष्यसम्पदा में २ लाख भिक्षु और ३ लाख ३६ हजार भिक्षुणयाँ थीं।[७८] अन्य परम्पराओं में इनका उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख है।

४. अभिनन्दन

अभिनन्दन जैन-परम्परा के चौथे तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके पिता का नाम संवर एवं माता का नाम सिद्धार्था था तथा इनका जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।[७९] इनके शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष और वर्ण सुनहरा बताया गया है।[८०] इन्होंने जीवन के अन्तिम चरण में १००० मनुष्यों के साथ संन्यास ग्रहण किया और कठिन तपस्या के बाद सम्मेतपर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया।[८१] इन्होंने अपनी ५० लाख पूर्व वर्ष की आयु में साढ़े बारह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था में, साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ जीवन में और एक लाख पूर्व वर्ष में संन्यास धर्म पालन किया। इनको प्रिअंक वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ था।

इनके ३ लाख मुनि और ३० हजार साध्वियाँ थीं।[८२] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - महाबल राजा और अनुत्तर स्वर्ग के देव का उल्लेख हुआ है।

५. सुमति

सुमति वर्तमान अवसर्पिणी काल के पाँचवें तीर्थंकर माने गए हैं।[८३] इनके पिता का नाम मेघ एवं माता का नाम मंगला तथा इनका जन्म स्थान विनय नगर माना गया है।[८४] इनके शरीर की ऊँचाई ३०० धनुष और वर्ण काञ्चन माना गया है।[८५] इन्होंने जीवन की अन्तिम संध्यावेला में संन्यास ग्रहण किया था और १२ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् प्रियंगु वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था।[८६] इन्होंने अपनी ४० लाख पूर्व वर्ष की आयु में १० लाख पूर्व कुमारावस्था, २९ लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ जीवन और १ लाख पूर्व वर्ष संन्यास धर्म का पालन किया।[८७] इनकी शिष्यसम्पदा में ३ लाख २० हजार भिक्षु और ५ लाख ३० हजार भिक्षुणियाँ थीं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - पुरुषसिंह राजकुमार और ऋद्धिशाली देव का उल्लेख हुआ है।

अन्य परम्पराओं में हमें इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. पद्मप्रभ

जैनपरम्परा में पद्मभ्रम छठे तीर्थंकर के रूप में माने जाते हैं।[८८] इनके पिता का नाम धर एवं माता का नाम सुसीमा था तथा इनका जन्मस्थान कौशाम्बी नगर माना गया है।[८९] इनके शरीर की ऊँचाई २५० धनुष एवं वर्ण लाल बताया गया है।[९०] इन्होंने कठिन तपश्चरण कर छत्रांग वृक्ष के नीचे केवल-ज्ञान प्राप्त किया था।[९१] इन्होंने अपनी ३० लाख पूर्व वर्ष की आयु में साढ़े इक्कीस लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ धर्म और एक लाख पूर्व वर्ष तक मुनि धर्म का पालन किया।[९२]

इनके संघ में ३ लाख ३० हजार मुनि एवं ४ लाख २० हजार साध्वियाँ थीं।[९३] अन्य परम्पराओं में इनका भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। वैसे पद्म राम का एक नाम है किन्तु इनकी राम से कोई समरूपता नहीं दिखाई देती है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों – अपराजित महाराजा और ग्रैवेयक देव का उल्लेख हुआ है।

७. सुपार्श्व

सुपार्श्व वर्तमान अवसर्पिणी काल के सातवें तीर्थंकर माने गए हैं।[९४] इनका जन्म वाराणसी के राजा प्रतिष्ठ की रानी पृथ्वी की कुक्षि से माना गया है।[९५] इनके शरीर की ऊँचाई २०० धनुष और वर्ण स्वर्णिम माना गया है।[९६] इन्हें ९ माह की कठिन तपस्या के पश्चात् शिरीष वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ[९७] और २० लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ।[९८]

इनके संघ में ३ लाख मुनि और ४ लाख ३० हजार साध्वियाँ थीं।[९९] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों – नन्दिसेन राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख हुआ है।

८. चन्द्रप्रभ

जैन-परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणी काल के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ माने जाते हैं।[१००] इनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्षणा था तथा इनका जन्मस्थान चन्द्रपुर था।[१०१] इनके शरीर की ऊँचाई १५० धनुष मानी गई है।[१०२] इनके शरीर का वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत बताया गया है।[१०३] इनको नागवृक्ष के नीचे बोधिज्ञान प्राप्त हुआ था।[१०४] इनकी शिष्य-सम्पदा में ढाई लाख भिक्षु और ३ लाख ८० हजार भिक्षुणियाँ थीं।[१०५] त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों – पद्म राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख मिलता है।

अन्य परम्पराओं में इनका कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

९. सुविधि या पुष्पदन्त

सुविधिनाथ जैन-परम्परा के नवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१०६] इनका जन्म काकन्दी नगरी के राजा सुग्रीव के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम रामा था।[१०७] इनके शरीर की ऊँचाई १०० धनुष बताई गई है।[१०८] इनके शरीर का वर्ण चमकते हुए चन्द्रमा के समान बताया गया है।[१०९] इनको काकन्दी नगरी के बाहर उद्यान में मल्लिका वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था[११०] तथा २ लाख पूर्व वर्ष आयु व्यतीत करने के पश्चात् निर्वाण लाभ हुआ था।[१११] इनके संघ में २ लाख साधु एवं ३ लाख साध्वियाँ थीं।[११२] अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख नहीं मिलता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों – महापद्म राजा और अहमिन्द्र देव का वर्णन हुआ है।

१०. शीतल

शीतल वर्तमान अवसर्पिणी काल के दसवें तीर्थंकर माने गए हैं।[११३] इनके पिता का नाभ दृढ़रथ और माता का नाम नन्दा था तथा इनका जन्मस्थान भद्दिलपुर माना गया है।[११४] इनके शरीर की ऊँचाई ९० धनुष[११५] और वर्ण स्वर्णिम[११६] बताया गया है। इन्होंने भी अपने जीवन के अंतिम चरण में संन्यास ग्रहण कर ३ माह की कठिन तपस्या के पश्चात् पीपल वृक्ष के नीचे बोधि-ज्ञान प्राप्त किया[११७] तथा सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[११८] इनकी शिष्यसम्पदा में एक लाख साधु और एक लाख २० हजार साध्वियाँ थीं।[११९] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों – पद्मोत्तर राजा और प्रणित स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में जन्म ग्रहण करने का उल्लेख है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओं में देखने को नहीं मिलता है।

११. श्रेयांस

जैन-परम्परा में श्रेयांस को ग्यारहवें तीर्थंकर के रूप में माना गया है।[१२०] इनका जन्म सिंहपुर के राजा विष्णु के यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ बताया जाता है। इनकी माता विष्णु देवी थीं।[१२१] इनके शरीर की ऊँचाई ८० धनुष तथा वर्ण स्वर्णिम बताया गया है।[१२२] इन्होंने २ माह की कठिन तपस्या के बाद तिन्दुक वृक्ष के नीचे बोधि-ज्ञान प्राप्त किया था।[१२३] इनको भी सम्मेत शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ था।[१२४] इनके संघ में ८४ हजार भिक्षु और १ लाख ६ हजार भिक्षुणियाँ थीं।[१२५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - नलिनीगुल्म राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है।

अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

१२. वासुपूज्य

वासुपूज्य वर्तमान अवसर्पिणी काल के बारहवें तीर्थंकर माने जाते हैं।[१२६] इनके पिता का नाम वसुपूज्य एवं माता का नाम जया था तथा इनका जन्मस्थान चम्पा माना गया है।[१२७] इनके शरीर की ऊँचाई ७० धनुष बताई गयी है।[१२८] इनके शरीर का वर्ण लाल बताया गया है।[१२९] इन्होंने भी तपश्चरण कर पाटला वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था।[१३०] इनकी शिष्य-सम्पदा में ७२ हजार भिक्षु और एक लाख ३ हजार भिक्षुणियाँ थीं।[१३१] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - पद्मोत्तर राजा और ऋद्धिमानदेव का उल्लेख मिलता है।

अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख नहीं मिलता है।

१३. विमल

जैन-परम्परा में विमल को तेरहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[१३२] इनके पिता का नाम कृतवर्मा एवं माता का नाम श्यामा और जन्मस्थान काम्पिल्यपुर माना गया है।[१३३] इनके शरीर की ऊँचाई ६० धनुष और रंग काञ्चन बताया गया है।[१३४] इन्होंने भी अपने जीवन के अंतिम चरण में कठिन तपस्या की और जम्बू वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया।[१३५] अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अंत में सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[१३६] इनके संघ में ६८ हजार साधु एवं एक लाख एक सौ आठ साध्वियों के होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[१३७] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - पद्मसेन राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं है।

१४. अनन्त

अनन्त जैन-परम्परा के चौदहवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१३८] इनके पिता का नाम सिंहसेन एवं माता का नाम सुयशा और जन्मस्थल अयोध्या माना गया है।[१३९] इनके शरीर की ऊँचाई ५० धनुष और वर्ण काञ्चन बताया गया है।[१४०] इनको अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।[१४१] इन्होंने ३० लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया।[१४२] इनकी शिष्यसम्पदा में ६६ हजार भिक्षु और एक लाख आठ सौ भिक्षुणियों के होने का उल्लेख है।[१४३] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - पद्मरथ राजा और पुष्पोत्तर विमान में बीस सागरोपम की स्थिति वाले देव का उल्लेख है।

इनका उल्लेख हमें अन्य परम्पराओं में नहीं मिलता है।

१५. धर्म

धर्म वर्तमान अवसर्पिणी काल के पंद्रहवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१४४] इनके पिता का नाम भानु एवं माता का नाम सुव्रता और जन्मस्थान रत्नपुर माना गया है।[१४५] इनके शरीर की ऊँचाई ४५ धनुष और वर्ण स्वर्णिम बताया गया है।[१४६] इन्होंने जीवन की सान्ध्यवेला में कठिन तपस्या कर दधिपर्ण वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया।[१४७] इन्होंने एक लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया। जैन-ग्रंथों के अनुसार इनके संघ में ६४ हजार साधु एवं ६२ हजार ४ सौ साध्वियाँ थीं।[१४८] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - दृढ़रथ राजा और अहमिन्द्रदेव का वर्णन उपलब्ध है।

अन्य परम्पराओं में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

१६. शान्ति

जैनपरम्परा में शान्तिनाथ को सौलहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[१४९] इनके पिता का नाम विश्वसेन एवं माता का नाम अचिरा और जन्मस्थान हस्तिनापुर माना गया है।[१५०] इनके शरीर की ऊँचाई ४० धनुष और वर्ण स्वर्णिम कहा गया है।[१५१] इन्होंने एक वर्ष की कठिन तपस्या के बाद नन्दी वृक्ष के नीचे बोधिज्ञान या केवलज्ञान प्राप्त किया।[१५२] अपनी एक लाख वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् इन्होंने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[१५३] इनकी शिष्यसम्पदा में ६२ हजार भिक्षु और ६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हजार ६ सौ भिक्षुणियाँ थीं, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[१५४] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - मेघरथ राजा और सर्वार्थसिद्धि विमान में देव बनने का उल्लेख हुआ है।

यद्यपि शान्तिनाथ का उल्लेख बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं में नहीं मिलता है किन्तु 'मेघरथ' के रूप में इनके पूर्वभव की कथा हिन्दू-पुराणों में महाराज शिवि के रूप में मिलती है।

भगवान शान्ति अपने पूर्वभव में राजा मेघरथ थे। उस समय जब वे ध्यान-चिन्तन में लीन थे, एक भयातुर कपोत उनकी गोद में गिरकर उनसे अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। जैसे ही राजा ने उसे अभयदान दिया, उसी समय एक बाज उपस्थित होता है और राजा से प्रार्थना करता है कि कपोत मेरा भोज्य है, इसे छोड़ दें क्योंकि मैं बहुत भूखा हूँ।

राजा उस बाज से कहते हैं कि उदर-पूर्ति के लिए हिंसा करना घोर पाप है, अब तुम्हें इस पापसे से विरत रहना चाहिए। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। किन्तु बाज पर इस उपदेश का कोई असर नहीं हुआ। अंत में बाज, कबूतर के बराबर माँस मिलने पर कबूतर को छोड़ देने पर राजी हो गया। राजा मेघरथ ने तराजू के एक पलड़े में कबूतर को और दूसरे पलड़े में अपनी शरीर से माँस के टुकड़ों को रखना शुरू कर दिया। परन्तु कबूतर वाला पलड़ा भारी पड़ता रहा, अंत में ज्यों ही राजा उस पलड़े में बैठने को तत्पर हुए उसी समय एक देव प्रकट हुआ और उनकी प्राणिरक्षा की वृत्ति की प्रशंसा की। कबूतर एवं बाज अदृश्य हो गए। राजा पहले की तरह स्वस्थ हो गए।

'इसी तरह की कथा महाभारत के वनपर्व में राजा शिवि की उल्लेखित है। राजा शिवि अपने दिव्य सिंहासन पर बैठे हुए थे, एक कबूतर उनकी गोद में गिरता है और अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है - 'महाराज बाज मेरा पीछा कर रहा है, मैं आपकी शरण में आया हूँ' इतने में बाज भी उपस्थित हो जाता है और कहता है कि 'महाराज कपोत मेरा भोज्य है, इसे आप मुझे दे दें' राजा ने कपोत देने से मना कर दिया और बदले में अपना माँस देना स्वीकार किया। तराजू के एक पलड़े में कपोत और दूसरे में राजा शिवि अपने दायीं जांघ से माँस काट-काटकर रखने लगे, फिर भी कपोत वाला पलड़ा भारी ही पड़ता रहा। अतः स्वयं राजा तराजू के पलड़े पर चढ़ गए। ऐसा करने पर तनिक भी उन्हें क्लेश नहीं हुआ। यह देखकर बाज बोल उठा - 'हो गई कबूतर की रक्षा' और वह अन्तर्धान हो गया।

राजा शिवि ने कबूतर से पूछा कि वह बाज कौन था? तो कबूतर ने कहा - 'वह बाज साक्षात् इन्द्र थे और मैं अग्नि हूँ। राजन्! हम दोनों आपकी साधुता देखने के लिए यहाँ आए थे।'

इन दोनों कथाओं का जब तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तो दिखाई देता है कि दोनों में ही जीवहिंसा को पाप बताया गया है और अहिंसा के पालन पर जोर दिया गया है। यद्यपि इन दोनों कथाओं में कथानायक राजा मेघरथ और राजा शिवि के नामों में भिन्नता है किन्तु कथा की विषयवस्तु और प्रयोजन अर्थात् प्राणिरक्षा दोनों में समान है।

१७. कुन्थु

कुन्थुनाथ को जैन-परम्परा में सत्रहवाँ तीर्थंकर माना गया है।[१५५] इनके पिता का नाम सूर्य, माता का नाम श्री और जन्मस्थान गजपुर अर्थात् हस्तिनापुर माना गया है।[१५६] इनके शरीर की ऊँचाई ३५ धनुष और वर्ण काञ्चन बताया गया है।[१५७] इनको तिलक वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।[१५८] अपनी ९५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण करने के बाद इन्होंने भी सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[१५९] इनके संघ में ६० हजार साधु एवं ६० हजार ६ सौ साध्वियों के होने का उल्लेख है।[१६०] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - सिंहावह राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय में अन्य परम्पराओं में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

१८. अरनाथ

अरनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के अट्ठारहवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१६१] इनके पिता का नाम सुदर्शन, माता का नाम श्रीदेवी और जन्मस्थान हस्तिनापुर माना गया है।[१६२] इनके शरीर की ऊँचाई ३० धनुष और रंग स्वर्णिम बताया गया है।[१६३] इन्होंने जीवन के अंतिम चरण में संन्यास ग्रहण कर तीन वर्ष तक कठोर तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।[१६४] इनको केवलज्ञान आम्र वृक्ष के नीचे प्राप्त हुआ।[१६५] अपनी ८४ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर इन्होंने भी सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[१६६]इनकी शिष्य-सम्पदा में ५० हजार साधु एवं ६० हजार साध्वियाँ थीं, ऐसा उल्लेख है।[१६७] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों - धनपति राजा और महर्द्धिक देव का उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है।

पं. दलसुख भाई मालवणिया ने 'जैन-साहित्य का वृहद् इतिहास' की भूमिका में अर की बौद्धपरम्परा के अरक बुद्ध से समानता दिखाई है। बौद्ध-परम्परा में अरक नामक बुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है। भगवान बुद्ध ने पूर्वकाल में होने वाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरों की बात कही है। आश्चर्य यह है कि उसमें भी इन्हें तीर्थंकर (तित्थकर) कहा गया है।[१६८] इसी प्रसंग में भगवान् बुद्ध ने अरक का उपदेश कैसा था, इसका वर्णन किया है। उनका उपदेश था कि सूर्य के निकलने पर जैसे घास पर स्थित ओसबिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी मरणशील होता है, इस प्रकार ओस बिन्दु की उपमा देकर जीवन की क्षणिकता[१६९] बताई गई है। उत्तराध्ययन में भी एक गाथा इसी तरह की उपलब्ध है -

'कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लंबमणिए।
एवं मणयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए।।'[१७०]

इसमें भी जीवन की क्षणिकता के बारे में कहा गया है। अतः भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित अरक का हम जैनपरम्परा के अट्ठारहवें तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठा सकते हैं या नहीं, यह विचारणीय है। जैनशास्त्रों के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके बाद होने वाले मल्लि तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो अरक का समय अर और मल्लि के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाए, तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल में हुआ था, जिनसे बौद्ध और जैन दोनों ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बौद्ध-परम्परा में बताए गए अरनेमि और जैन-तीर्थंकर अर का भी कोई संबंध हो सकता है, यह विचारणीय है। नामसाम्य तो आंशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है। हमारी दृष्टि में अरक का संबंध अर से और अरनेमि का संबंध अरिष्टनेमि से जोड़ा जा सकता है। बौद्ध-परम्परा में अरक का जो उल्लेख हमें प्राप्त होता है, उसे हम जैन-परम्परा के अरतीर्थंकर के काफी समीप पाते हैं।

१९. मल्लि

"मल्लि" को इस अवसर्पिणी काल का १९वाँ तीर्थंकर माना गया है।[१७१] इनके पिता का नाम कुंभ और माता का नाम प्रभावती था। मल्लि की जन्मभूमि विदेह की राजधानी मिथिला मानी गई है।[१७२] इनके शरीर की ऊँचाई २५ धनुष और रंग साँवला माना गया है।[१७३] सम्भवतः जैन-परम्परा के अंग-साहित्य में महावीर के बाद यदि किसी का विस्तृत उल्लेख मिलता है, तो वह मल्लि का है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्लि के जीवन वृत्त का विस्तार से उल्लेख उपलब्ध है। जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ मल्लि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष तौर से इस बात को लेकर कि वे पुरुष थे या स्त्री मतभेद रखती है। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि मल्लि पुरुष थे, जबकि श्वेताम्बर परम्परा उन्हें स्त्री मानती है। सामान्यतया जैन-परम्परा में यह माना गया है कि पुरुष ही तीर्थंकर होता है, किन्तु श्वेताम्बर आगम-साहित्य में यह भी उल्लेख है कि इस कालचक्र में जो विशेष आश्चर्यजनक १० घटनाएँ हुईं, उनमें महावीर का गर्भापहरण और मल्लि का स्त्री रूप में तीर्थंकर होना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्वेताम्बर-आगम ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लि के सौंदर्य पर मोहित होकर साकेत के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाल के राजा रुक्मि, वाराणसी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और कम्पिलपुर के राजा जितशत्रु, इनसे विवाह करना चाहते थे, किन्तु इन्होंने अपने युक्तिबल से छहों को समझाकर वैराग्य के मार्ग पर लगा दिया। इन सभी ने मल्लि के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। मल्लि ने जिस दिन संन्यास ग्रहण किया, उसी दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। मल्लि के ४० हजार श्रमण, ५० हजार श्रमणियाँ और १ लाख ८४ हजार गृहस्थ उपासक तथा ३ लाख ६५ हजार गृहस्थ उपासिकाएं थीं।[१७४]

जैन-परम्परा के अनुसार इन्होंने सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।[१७५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों-महाबल राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख हुआ है।

२०. मुनिसुव्रत

जैन-परम्परा में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत माने गए हैं।[१७६] इनके पिता का नाम सुमित्र, माता का नाम पद्मावती और जन्मस्थान राजगृह माना गया है।[१७७] इनके शरीर की ऊँचाई २० धनुष और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ण गहरा नीला माना गया है।[१७८] इन्होंने जीवन की संध्यावेला में चम्पक वृक्ष के नीचे कठोर तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया[१७९] और अपनी ३० हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त किया।[१८०] इनके संघ में ३० हजार मुनियों एवं ५० हजार साध्वियों के होने का उल्लेख है।[१८१] त्रिषष्टिकालपुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों- सुरश्रेष्ठ राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय में अन्य परम्पराओं में कोई उल्लेख नहीं है।

२१. *नमि*

नमिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के इक्कीसवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१८२] इनका जन्म मिथिला के राजा विजय की रानी वप्रा की कुक्षि से माना गया है।[१८३] इनके शरीर की ऊँचाई १५ धनुष और वर्ण काञ्चन माना गया है।[१८४] इन्होंने वोरसली वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया।[१८५] अपनी १० हजार वर्ष की आयु व्यतीत कर इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[१८६] इनकी शिष्य-सम्पदा में २० हजार भिक्षु और ४१ हजार भिक्षुणियाँ थीं, ऐसा उल्लेख है।[१८७] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख है - सिद्धार्थ राजा और अपराजित विमान में ३३ सागर की आयु वाले देव।

बौद्ध एवं हिन्दू परम्पराओं में इनका उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध-परम्परा में नमि नामक प्रत्येकबुद्ध का और हिन्दू-परम्परा में मिथिला के राजा के रूप में नमि का उल्लेख है।

उत्तराध्ययनसूत्र के ९वें अध्ययन 'नमिप्रवज्या' में नमि के उपदेश विस्तार से संकलित हैं। सूत्रकृतांग में अन्य परम्परा के ऋषियों के रूप में तथा उत्तराध्ययन के १८वें अध्ययन में प्रत्येकबुद्ध के रूप में भी नमि का उल्लेख है। यद्यपि तीर्थंकर नमि और इन ग्रंथों में वर्णित नमि एक ही हैं, यह विवादास्पद है। जैनाचार्य इन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं - किन्तु हमारी दृष्टि में वे एक ही व्यक्ति हैं, वस्तुतः नमि की चर्चा उस युग में सर्वसामान्य थी - अतः जैनों ने उन्हें आगे चलकर तीर्थंकर के रूप में मान्य कर लिया। उत्तराध्ययन के 'नमि' तीर्थंकर नमि ही हैं, क्योंकि दोनों का जन्मस्थान भी मिथिला ही है।

२२. *अरिष्टनेमि*

अरिष्टनेमि वर्तमान अवसर्पिणी काल के बाईसवें तीर्थंकर माने गए हैं।[१८८] ये पार्श्व के पूर्ववर्ती तीर्थंकर तथा कृष्ण के समकालीन माने गए हैं। इनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवादेवी कहा जाता है। इनका जन्मस्थान शौरीपुर माना गया है।[१८९] इनकी ऊँचाई १० धनुष और वर्ण साँवला था।[१९०] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके नौ पूर्वभवों का उल्लेख हुआ है - धनकुमार, अपराजित आदि। इनके एक भाई रथनेमि थे[१९१] जिनका विशेष उल्लेख उत्तराध्ययन के २२वें अध्याय में उपलब्ध होता है। राजीमती के साथ इनका विवाह निश्चित हो गया था, किन्तु विवाह के समय जाते हुए इन्होंने मार्ग में अनेक पशु-पक्षियों को एक बाड़े में बंद देखा, तो इन्होंने अपने सारथि से जानकारी प्राप्त की कि ये सब पशु-पक्षी किसलिए बाड़े में बंद कर दिए गए हैं। सारथि ने बताया कि ये आपके विवाहोत्सव के भोज में मारे जाने के लिए इस बाड़े में बंद किए गए हैं। अरिष्टनेमि को यह जानकर बहुत धक्का लगा कि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशु-पक्षियों का वध होगा, अतः वे बारात से बिना विवाह किए ही वापस लौट आए तथा विरक्त होकर कुछ समय के पश्चात् संन्यास ले लिया। इनको संन्यास ग्रहण करने के ५४ दिन पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजीमती, जिससे उनका विवाह सम्बन्ध तय हो गया था, ने भी उनका अनुसरण करते हुए संन्यास ग्रहण कर लिया।

अरिष्टनेमि के १८ हजार भिक्षु और ४० हजार भिक्षुणियाँ थीं।[१९२] इनको निर्वाणलाभ उर्जयन्त शिखर पर हुआ था।[१९३]अरिष्टनेमि महाभारत के काल में हुए थे। महाभारत का काल ई.पू. १००० के लगभग कहा जाता है। महाभारत के काल के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, किन्तु यह सत्य है कि कृष्ण महाभारत-काल में हुए थे और अरिष्टनेमि या नेमिनाथ उनके चचेरे भाई थे। डॉ. फुहरर (Fuhrer) ने जैनों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।[१९४] अन्य विद्वानों ने भी नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष माना है। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार ने काठियावाड़ में प्रभासपट्टन नामक स्थान से प्राप्त एक ताम्रपत्र को पढ़कर बताया है कि वह बाबुल देश (Babylonia) के सम्राट् नेबुशदनेजर ने उत्कीर्ण कराया था, जिनके पूर्वज रेवानगर के राज्याधिकारी भारतीय थे। सम्राट् नेबुशदनेजर ने भारत में आकर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् की वन्दना की थी। इससे नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-परम्परा के अनुसार अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। अंतकृद्दशांग के अनुसार कृष्ण के अनेक पुत्रों और पत्नियों ने अरिष्टनेमि के समीप संन्यास ग्रहण किया था। जैन-आचार्यों ने इनके जीवनवृत्त के साथ-साथ कृष्ण के जीवनवृत्त का भी काफी विस्तार के साथ उल्लेख किया है। जैन-हरिवंशपुराण में तथा उत्तरपुराण में इनके और श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त विस्तार के साथ उल्लेखित हैं। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि के नाम का उल्लेख है[१९५] किन्तु नाम उल्लेख मात्र से यह निर्णय कर पाना अत्यंत कठिन है कि वेदों में उल्लिखित अरिष्टनेमि जैनों के २२वें तीर्थंकर हैं या कोई और। जैन-परम्परा अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण का गुरु मानती है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण के गुरु घोर अंगिरस के साथ अरिष्टनेमि की साम्यता बताने का प्रयास किया है। धर्मानन्द कोशाम्बी का मन्तव्य है कि अंगिरस भगवान् नेमिनाथ का ही नाम था।[१९६] यह निश्चित ही सत्य है कि अरिष्टनेमि और घोर अंगिरस दोनों ही अहिंसा के प्रबल समर्थक हैं किन्तु इस अरिष्टनेमि की नाम -साम्यता बौद्ध परम्परा के अरनेमि बुद्ध से भी देखी जाती है, जो विचारणीय है।

२३. पार्श्वनाथ

पार्श्व को वर्तमान अवसर्पिणी काल का तेईसवाँ तीर्थंकर माना गया है।[१९७] महावीर के अतिरिक्त जैन-तीर्थंकरों में पार्श्व ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको असन्दिग्ध रूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है। इनके पिता का नाम अश्वसेन, माता का नाम वामा और जन्मस्थान वाराणसी माना गया है।[१९८] इनके शरीर की ऊँचाई नौ रत्नि अर्थात् नौ हाथ तथा वर्ण श्याम माना गया है।[१९९] इनके पिता वाराणसी के राजा थे। जैन-कथा - साहित्य में हमें उनके दो नाम उपलब्ध होते हैं - अश्वसेन और हयसेन। महाभारत में वाराणसी के जिन राजाओं का उल्लेख उपलब्ध है, उनमें से एक नाम हर्यअश्व भी है, सम्भावना की जा सकती है कि हर्यअश्व और अश्वसेन एक ही व्यक्ति रहे हों।

पार्श्व की ऐतिहासिकता - डॉ. सागरमल जैन के अनुसार किसी भी व्यक्ति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पार्श्व की ऐतिहासिकता के विषय में अभी तक ईसा पूर्व का कोई अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। भारत में प्राप्त अभी तक पढ़े जा सकने वाले प्राचीनतम अभिलेख मौर्यकाल से अधिक प्राचीन नहीं है। मौर्यकालीन अभिलेखों में निर्ग्रंन्थों का तो उल्लेख है, किन्तु पार्श्व का कोई उल्लेख नहीं है।

परम्परागत मान्यताओं के आधार पर पार्श्वनाथ मौर्यकाल से ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अभिलेखीय साक्ष्य ईसा की प्रथम शताब्दी का उपलब्ध है।[२००] मथुरा के अभिलेख (संख्या ८३) में स्थानीय कुल के गणि उग्गहीनिय के शिष्य वाचक घोष द्वारा अर्हत् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा को स्थापित करने का उल्लेख है।[२०१] डॉ. जेकोबी ने बौद्ध-साहित्य के उल्लेखों के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है कि "बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ अपने प्रतिद्वंद्वी अर्थात् बौद्धों की उपेक्षा करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रंथ-सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।"[२०२]

डॉ. हीरालाल जैन ने लिखा है - "बौद्ध-ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' 'चतुक्कनिपात' (वग्ग ५) और उसकी 'अट्ठकथा' में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रंथ श्रावक था।[२०३] अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ये निर्ग्रन्थ कौन थे ? ये महावीर के अनुयायी तो हो नहीं सकते, क्योंकि महावीर बुद्ध के समसामयिक हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि महावीर और बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थों की कोई परम्परा अवश्य रही होगी, जिसका अनुयायी बुद्ध का चाचा था। अत: हम कह सकते हैं कि बुद्ध और महावीर के पूर्व पार्श्वापत्यों की परम्परा रही होगी। पालि त्रिपिटक साहित्य में पार्श्वनाथ की परम्परा का एक और प्रमाण यह है कि सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ श्रावक था। सच्चक द्वारा महावीर को परास्त करने का आख्यान भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि सच्चक और महावीर समकालीन थे। अस्तु सच्चक के पिता का निर्ग्रन्थ श्रावक होना यह सिद्ध करता है कि महावीर के पूर्व भी कोई निर्ग्रन्थ-परम्परा थी, जो पार्श्वनाथ की ही परम्परा रही होगी।[२०४]

मज्झिमनिकाय के 'महासिंहनादसुत्त' में बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्विजीवन का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाए हैं - तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविकृता। जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया और पीछे उनका परित्याग कर दिया था।[२०५] इन चारों तपों का महावीर एवं उनके अनुयायियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने पालन किया था। बुद्ध के दीक्षा लेने के समय तक महावीर के निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं हुआ था। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय अवश्य ही महावीर के पूर्वज पार्श्वनाथ का रहा होगा।

यह सम्भव है कि प्रथम महावीर ने पार्श्वापत्यों की परम्परा का अनुसरण कर एक वस्त्र ग्रहण किया हो, किन्तु आगे चलकर आजीवक परम्परा के अनुरूप अचेलता का अनुगमन कर लिया हो। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से महावीर को अचेल धर्म और पार्श्वनाथ को सचेलक धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[२०६] सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि में मिलने वाले पार्श्वापत्यों के उल्लेखों से और उनके द्वारा महावीर की परम्परा स्वीकार करने सम्बन्धी विवरणों से निर्विवाद रूप से यह सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, काल्पनिक नहीं। पार्श्व एवं उनकी परम्परा की ऐतिहासिकता तथा उनकी दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में पंडित सुखलालजी ने अपने ग्रंथ 'चार तीर्थंकर' में, पंडित दलसुखभाई ने 'जैन - सत्यप्रकाश' में प्रकाशित पार्श्व पर लिखे अपने शोध लेख में, श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'भगवान् पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन' में और डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'अर्हत पार्श्व और उनकी परम्परा' में पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। विद्वान् पाठकगण उसे वहाँ देख सकते हैं।

यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दू और बौद्ध-साहित्य में कहीं भी पार्श्व के नाम का उल्लेख नहीं है, जबकि प्राचीन जैन-आगमसाहित्य के अनेक ग्रंथ यथा-ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग, भगवती, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि में पार्श्व और उनके अनुयायियों के उल्लेख मिलते हैं। ऋषिभाषित तो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना है। उसमें इनका उल्लेख इनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करता है। बौद्ध पालि-त्रिपिटक-साहित्य में भी जिन चातुर्यामों का उल्लेख मिलता है, उनका सम्बन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से है। पार्श्वनाथ ने विशेष रूप से देह-दण्डन की प्रक्रिया की आलोचना की तथा ज्ञान सम्बन्धी और विवेकयुक्त तप को ही श्रेष्ठ बताया।

जैन-परम्परा में पुरुषादानीय के रूप में इनका बड़े आदर के साथ उल्लेख पाया जाता है। जैन-परम्परा में पार्श्व को महावीर से भी अधिक महत्त्व प्राप्त है। उन्हें विघ्न-हरण करने वाला बतलाया गया है। उनके यक्ष का नाम पार्श्व बतलाया गया है और उसकी आकृति हिन्दू-परम्परा के गणेश के समान मानी गई है, जो कि विघ्नहारी देवता हैं। पार्श्वनाथ का विहार-क्षेत्र अमलकप्पा, श्रावस्ती, चम्पा, नागपुर, साकेत, अहिच्छत्र, मथुरा, काम्पिल्य, राजगृह, कौशाम्बी, हस्तिनापुर आदि रहा है। जैन-मान्यता के अनुसार इन्होंने सम्मेत शिखर पर्वत पर सौ वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया था। आज भी सम्मेत शिखर पार्श्वनाथ पहाड़ के नाम से जाना जाता है। पार्श्वनाथ के सोलह हजार भिक्षु और अड़तीस हजार भिक्षुणियाँ थीं। त्रिषष्टिशलाका -पुरुषचरित्र में इनके १० पूर्व भवों का उल्लेख है। यह माना जाता है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की परम्परा की मान्यताओं को देश और काल के अनुसार संशोधित कर नये रूप में प्रस्तुत किया। प्राचीन जैन-साहित्य को देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा में मतभेद रहा, किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में विलीन हो गई।

पार्श्व का अवदान

भारतीय संस्कृति में श्रमण-धारा का आवश्यक घटक तप एवं त्याग को माना गया है और यही इसकी प्रतिष्ठा का कारण रहा है। पार्श्वनाथ इसी श्रमण-परम्परा के प्रतिपादक हैं। भारतीय संस्कृति को पार्श्व के अवदान की चर्चा करते हुए डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि यद्यपि श्रमणों ने वैदिकों के हिंसक यज्ञों का विरोध किया ही, साथ ही उनकी कर्मकाण्डीय प्रथा का भी बहिष्कार किया था, फिर भी श्रमण-धारा में कर्मकाण्ड प्रविष्ट कर ही गया था, क्योंकि उनके तप और त्याग विवेक प्रधान न रहकर रूढ़िवादी कर्म-काण्डीय प्रथा के अनुरूप बन गए थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ के युग में श्रमण -धारान्तर्गत तप और त्याग के साथ कर्म-काण्ड पूरी तरह जुड़ गया था और तप देह-दण्डन और बाह्याडम्बर मात्र रह गया। कठोरतम देह-दण्डन द्वारा लोक में प्रतिष्ठा पाना श्रमणों और संन्यासियों का एकमात्र उद्देश्य बन गया था। सम्भवतः उपनिषदों की ज्ञानमार्गी धारा अभी पूर्णतया विकसित नहीं हो पाई थी, तदर्थ पार्श्वनाथ ने देह-दण्डन और कर्मकाण्ड दोनों का विरोध किया। कमठ तापस के देह-दंडन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा - 'तुम्हारी इस साधना में आध्यात्मिक आनन्दानुभूति कहाँ है ? इसमें न तो स्वहित ही है और न परहित अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकहित ही। एक ओर तो तुम स्वयं अग्नि द्वारा अपने शरीर को झुलसा रहे हो, तो दूसरी ओर अनेक छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं को भी जला रहे हो, मात्र यही नहीं, इस लक्कड़ के टुकड़े में नाग-युगल भी जल रहा है।' उनकी इस बात की पुष्टि हेतु लक्कड़ को चीरकर नाग-युगल के प्राणों की रक्षा की गई। इससे यह बोध होता है कि पार्श्व के अनुसार वह साधना जो आत्मपीडन और परपीडन से जुड़ी हो सच्चे अर्थों में साधना नहीं कही जा सकती। साधना में ज्ञान और विवेक का होना आवश्यक है। देह-दण्डन, जिसमें ज्ञान और विवेक के तत्त्व नहीं हैं, आत्म-पीड़न से अधिक कुछ नहीं है। देह को पीड़ा देना साधना नहीं है। साधना से तो मनोविकारों में निर्मलता आती है एवं आत्मा में सहज आनन्द की अनुभूति होती है। पार्श्वनाथ की यह शिक्षा, हो सकता है कि कर्मठ जैसे तापसों को अच्छी नहीं लगी हो, किन्तु इसमें एक सत्य निहित है। धर्म-साधना को न तो आत्म-पीडन के साथ जोड़ना चाहिए और न पर-पीडन के साथ। वासना एवं विकारों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है।[२०७]

ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने युग में एक महत्त्वपूर्ण क्रांति के द्वारा साधना को सहज बनाकर ज्ञान और विवेक के तत्त्व को प्रतिष्ठित किया होगा। इस प्रकार पार्श्व ने धर्म और साधना को पर-पीडन और आत्म-पीडन से मुक्त करके आत्म-शोधन या निर्विकारता की साधना के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और उनकी यही शिक्षा भारतीय संस्कृति और श्रमण-परम्परा को सबसे बड़ा अवदान कहा जा सकता है।

पार्श्व का धर्म एवं दर्शन

ऋषिभाषित (ई.पू. तीसरी-चौथी शती) में पार्श्व के दार्शनिक मान्यताओं और धार्मिक उपदेशों का उल्लेख उपलब्ध हो जाता है। हम उसी अध्याय के आधार पर उनके धर्म एवं दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं - पार्श्व ने लोक को पारिमाणिक नित्य माना है। उनके अनुसार लोक अनादि काल से है, यद्यपि उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। उनके अनुसार जीव और पुद्गल दोनों ही परिवर्तनशील हैं। पुद्गल में परिवर्तन स्वाभाविक होते हैं, जबकि जीव में परिवर्तन कर्मजन्य होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पाप-कर्मों के माध्यम से अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रंथियों का सृजन करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति चातुर्याम-धर्म का पालन करता है, वह अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रंथि का सृजन नहीं करता है और फलतः नारक, देव, मनुष्य और पशु गति को प्राप्त नहीं होता है। ऋषिभाषित में उपलब्ध पार्श्व के उपदेशों से ऐसा लगता है कि जैन-दर्शन की पंचास्तिकाय की अवधारणा, अष्टकर्म का सिद्धांत और चातुर्याम-धर्म का पालन, ये पार्श्व की मूलभूत मान्यताएँ थीं। पार्श्व के दर्शन और चिंतन के कुछ रूप हमें पार्श्व के अनुयायियों की महावीर और उनके शिष्यों के साथ हुई परिचर्चा से प्राप्त हो जाते हैं।

भगवती, उत्तराध्ययन आदि में उपलब्ध पार्श्व की परम्परा के चिंतन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पार्श्व की परम्परा में तप, संयम, अस्त्रव और निर्जरा की सुव्यवस्थित अवधारणा थी। पार्श्व की अन्य समस्त अवधारणाओं के सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रंथ 'अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा' में विस्तार से विचार किया है, वे लिखते हैं - "सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना, पंचास्तिकाय की अवधारणा, अष्ट प्रकार की कर्म ग्रंथियाँ, शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ विपाक, कर्मविपाक के कारण चारों गतियों में परिभ्रमण तथा सामायिक, संवर, प्रत्याख्यान, निर्जरा, व्युत्सर्ग आदि सम्बन्धी अवधारणाएँ पार्श्वापत्य-परम्परा में स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं।"[२०८]

२४. वर्धमान महावीर

महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं।[२०९] इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला कहा जाता है, इनका जन्म-स्थान कुण्डपुर ग्राम बताया जाता है।[२१०] महावीर के जीवनवृत्त को लेकर जैनों की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में अनेक बातों में मतभेद हैं। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर का जीव सर्वप्रथम ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आया था और उसके पश्चात् इन्द्र के द्वारा उनका गर्भापहरण कराकर उन्हें सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कुक्षि में प्रस्थापित किया गया।[२११] दिगम्बर-परम्परा इस कल्पना को सत्य नहीं मानती है। महावीर के विवाह-प्रसंग को लेकर भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था। उनकी पुत्री प्रियदर्शना थी, जिसका विवाह जामालि से हुआ था।

दोनों परम्पराओं के अनुसार उनके शरीर की ऊँचाई सात हाथ तथा वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है।[२१२] दोनों परम्पराएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस बात में भी सहमत हैं कि महावीर ने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया था, यद्यपि उनके संन्यास ग्रहण करते समय उनके माता-पिता जीवित थे या मृत्यु को प्राप्त हो गए थे, इस बात को लेकर पुनः मतभेद हैं, श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर ने गर्भस्थकाल में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ही अपने भाई नन्दी से आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण किया,[२१३] परन्तु दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर ने अपने माता-पिता की आज्ञा से संन्यास ग्रहण किया था। महावीर का साधना-काल अत्यन्त दीर्घ रहा, उन्होंने बारह वर्ष, छह माह तपस्या करके वैशाख शुक्ला दशमी को बयालीस वर्ष की अवस्था में कैवल्यज्ञान प्राप्त किया था।[२१४] वे कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् लगभग ३० वर्ष तक अपना धर्मोपदेश देते रहे और अंत में ७२ वर्ष की अवस्था में मध्यम-पावा में निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके संघ में १४००० श्रमण तथा ३६०० श्रमणियाँ थीं।[२१५]

महावीर के जीवनवृत्त-सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख हमें आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधान सूत्रनामक नवें अध्ययन में तथा द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में मिलता है। पुनः महावीर के जीवनवृत्त का विस्तृत उल्लेख कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है। इसके पश्चात् आवश्यकचूर्णि और परवर्ती महावीर-चरित्रों में मिलता है। महावीर के जीवनवृत्तों को हम कालक्रम में देखें, तो ऐसा लगता है कि प्राचीन ग्रंथों में उनके जीवन के साथ बहुत अधिक अलौकिकताएँ नहीं जुड़ी हुई हैं, किन्तु क्रमशः उनके जीवनवृत्त में अलौकिकताओं का प्रवेश होता गया, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

महावीर की ऐतिहासिकता -

महावीर की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। महावीर के जन्मस्थल कुण्डग्राम को आजकल वसुकुण्ड कहते हैं, जो कि आज भी गण्डक नदी के पूर्व में स्थित है। बसाढ़ की खुदाई से प्राप्त सिक्के और मिट्टी की सीलें ईसा पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी की कही जाती हैं। सिक्कों पर अंकित - 'वसुकुण्डे जन्मे वैशालिये महावीर' से महावीर की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। वर्धमान महावीर को बौद्ध पिटक-ग्रंथों में 'निगंठ-नातपुत्त' कहा गया है।[२१६] निर्ग्रन्थ-परम्परा का होने के कारण सम्भवतः महावीर को निगंठ (निर्ग्रन्थ) तथा ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय होने के कारण नातपुत्त कहा गया हो।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं ने महावीर को कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र माना है। दिगम्बर-ग्रन्थों तिलोयपण्णत्ति, देशभक्ति और जयधवला में सिद्धार्थ को 'णाह' वंश या नाथ वंश का क्षत्रिय कहा गया है[२१७] और श्वेताम्बर-ग्रन्थ सूत्रकृतांग में 'णाय' कुल का उल्लेख है।[२१८] इसी कारण से महावीर को णायकुलचन्द और णायपुत्त कहा गया है।

णाह, णाय, णात शब्द एक ही अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं। इसीलिए 'बुद्धचर्या' में श्री राहुलजी ने नाटपुत्त का अर्थ - ज्ञातृपुत्र और नाथपुत्र दोनों किया है।

अस्तु यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध-ग्रंथों के निग्रंथ 'नाटपुत्त' कोई और न होकर महावीर ही थे, जिस प्रकार शाक्यवंश में जन्म होने के कारण बुद्ध के अनुयायी 'शाक्यपुत्रीय श्रमण' कहे जाते थे।[२१९] इस तरह महावीर के अनुयायी 'ज्ञातृपुत्रीय निर्ग्रन्थ' कहे जाते थे।[२२०]

श्री बुहलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन सेक्ट ऑफ दी जैनास्' में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है[२२१]- "बौद्ध -पिटकों का सिंहली संस्करण सबसे प्राचीन माना जाता है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में उसको अंतिम रूप दिया गया, ऐसा विद्वानों का मत है। उसमें बुद्ध के विरोधी रूप में निगंठों का उल्लेख है। संस्कृत में लिखे गए उत्तरकालीन बौद्ध-साहित्य में भी निर्ग्रन्थों को बुद्ध का प्रतिद्वंद्वी बतलाया गया है।

उन निगंठों या निर्ग्रन्थों के प्रमुख को पालि में नाटपुत्त और संस्कृत में ज्ञातृपुत्र कहा गया है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि नाटपुत्त या ज्ञातृपुत्र तथा जैनसम्प्रदाय के अंतिम तीर्थंकर वर्धमान एक ही व्यक्ति हैं।[२२२]

बौद्ध त्रिपिटक और अन्य बौद्ध-साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के प्रतिद्वंद्वी वर्धमान (नाटपुत्त) बहुत ही प्रभावशाली थे और उनका धर्म काफी फैल चुका था।[२२३]

महावीर-युग की धार्मिक मान्यताएँ

ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं शताब्दी धार्मिक आन्दोलन का युग था। उस समय भारत में ही नहीं, सम्पूर्ण एशिया में पुरानी धार्मिक मान्यताएँ खण्डित हो रही थीं और नए-नए मतों या सम्प्रदायों का उदय हो रहा था। चीन में लाओत्से और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्फ्यूसियस, ग्रीस में पाइथागोरस, सुकरात और प्लेटो तथा ईरान और परसिया में जरथुस्त्र आदि अपनी नई-नई दार्शनिक विचारधाराएँ प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे समय में जबकि प्रत्येक मत 'सयं सयं पसंसत्ता गरहंता परं वयं' अर्थात् अपने पंथ एवं मान्यताओं को श्रेष्ठ बताकर दूसरों की निन्दा कर रहा था, उस समय विभिन्न मतों के आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिए वर्धमान महावीर ने अनेकांत दर्शन की विचारधारा प्रस्तुत की थी।

बौद्ध-ग्रंथ 'सुत्तनिपात' में उल्लेख है कि उस समय ६३ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे।[२२४] जैनग्रन्थ सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती में भी उस युग के धार्मिक मतवादों का उल्लेख उपलब्ध है।[२२५] सूत्रकृतांग में उन सभी वादों का वर्गीकरण निम्नांकित चार प्रकार के समवसरण में किया गया है[२२६] -

१. क्रियावाद, २. अक्रियावाद, ३. विनयवाद, ४. अज्ञानवाद।

क्रियावाद - क्रियावादियों का कहना है कि आत्मा पाप-पुण्य आदि का कर्त्ता है।

अक्रियावाद - सूत्रकृतांग में अनात्मवाद, आत्मा के अकर्तृत्ववाद, मायावाद और नियतिवाद को अक्रियावाद कहा गया है।[२२७]

विनयवाद - विनयवादी बिना भेदभाव के सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करता है, अर्थात् सबकी विनय करना ही उसका सिद्धान्त है।

अज्ञानवाद - अज्ञानवादियों का कहना है कि पूर्ण ज्ञान किसी को होता नहीं है और अपूर्ण ज्ञान ही भिन्न मतों का जनक है, अर्थात् ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है और अज्ञान में ही जगत् का कल्याण है।

सूत्रकृतांग के अनुसार अज्ञानवादी तर्क करने में कुशल होने पर भी असम्बद्ध-भाषी हैं, क्योंकि वे स्वयं संदेह से परे नहीं हो सके हैं।[२२८]

जैन-आगम-ग्रन्थ उत्तराध्ययन में कहा गया है कि क्रियावाद ही सच्चा पुरुषार्थवाद है, वही धीर पुरुष है, जो क्रियावाद में विश्वास रखता है और अक्रियावाद का वर्णन करता है।[२२९]

जैन-दर्शन को सम्यक् क्रियावादी इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह एकांत दृष्टि नहीं रखता है। आत्मा आदि तत्त्वों में विश्वास करने वाला ही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है।[२३०]

आचारांग में भी महावीर के समकालीन चार वादों का उल्लेख भिन्न प्रकार से उपलब्ध है - 'आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी और किरियावादी।[२३१] निशीथचूर्णि में महावीर के युग के निम्नांकित दर्शन एवं दार्शनिकों का उल्लेख है।[२३२]

१. आजीवक, २. ईसरमत, ३. उलूग, ४. कपिलमत, ५. कविल, ६. कावाल, ७. कावालिय, ८. चरग, ९. तच्चन्निय, १०. परिव्वायग, ११. पंडुरंग, १२. बोडित, १३. भिच्छुग, १४. भिक्खू, १५. वेद। १६. सक्क, १७. सरक्ख, १८. सुतिवादी, १९. सेयवड, २०. सेयभिक्खू, २१. शाक्यमत, २२. हदुसरख।

बौद्ध-सम्प्रदाय में बुद्ध के समकालीन निम्नांकित छह श्रमण -सम्प्रदायों एवं उनके प्रतिपादक आचार्यों का उल्लेख है।[२३३]

१. अक्रियावाद - पूरणकाश्यप

२. नियतिवाद - मक्खलिगोशालक

३. उच्छेदवाद - अजितकेशकंबल

४. अन्योन्यवाद - प्रकुधकात्यायन

५. चातुर्यामसंवरवाद - निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र

६. विक्षेपवाद - संजय बेलट्ठिपुत्र

बौद्ध-साहित्य में अंकित उपर्युक्त ६ आचार्यों को तीर्थंकर कहा गया है। इनके एक निगण्ठनाटपुत्त स्वयं महावीर ही हैं।[२३४]

महावीर के उपदेश और उनका वैशिष्ट्य

जैनों के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने किसी नये दर्शन या धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ-परम्परा में प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं और आचार सम्बन्धी व्यवस्थाओं को किञ्चित् संशोधित कर प्रचारित किया। विद्वानों की यह मान्यता है कि महावीर की परम्परा में धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार जहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा से गृहीत हुए, वहीं आचार और साधना-विधि को मुख्यतया आजीवक-परम्परा से गृहीत किया गया। जैन-ग्रन्थों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की आचार-परम्परा में कई संशोधन किए थे। सर्वप्रथम उन्होंने पार्श्वनाथ के चातुर्याम-धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंच महाव्रतों या पंचयाम-धर्म का प्रतिपादन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ की परम्परा में स्त्री को परिग्रह मानकर परिग्रह के त्याग में ही स्त्री का त्याग भी समाहित मान लिया जाता था, किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों ने उसकी गलत ढंग से व्याख्या करना शुरू किया और कहा कि परिग्रह के त्याग में स्त्री का त्याग तो हो जाता है, किन्तु बिना विवाह के बंधन में बंधे स्त्री का भोग तो किया जा सकता है और उसमें कोई दोष नहीं है। अत: महावीर ने स्त्री के भोग के निषेध के लिए ब्रह्मचर्य की स्वतंत्र व्यवस्था की। महावीर ने पार्श्व की परम्पराओं में अनेक सुधार किए, जैसे उन्होंने मुनि की नग्नता पर बल दिया। दुराचरण के परिशोधन के लिए प्रात:कालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण की व्यवस्था की। उन्होंने कहा - चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो, प्रतिदिन प्रात:काल और सायंकाल अपने दोषों की समीक्षा तो करनी चाहिए। इसी प्रकार औद्देशिक आहार का निषेध, चातुर्मासिक व्यवस्था और नवकल्प विहार आदि ऐसे प्रश्न थे, जिन्हें महावीर की परम्परा में आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया था। इस प्रकार महावीर ने पार्श्वनाथ की ही परम्परा को संशोधित किया था। महावीर के उपदेशों की विशिष्टता यही है कि उन्होंने ज्ञानवाद की अपेक्षा भी आचार-शुद्धि पर अधिक बल दिया है और किसी नये धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना के स्थान पर पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ-परम्परा को ही देश और काल के अनुसार संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। महावीर के उपदेशों में रत्नत्रय की साधना में पंचमहाव्रतों का पालन, प्रतिक्रमण, परिग्रह का सर्वथा त्याग, कठोर तप - साधना आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो निर्ग्रन्थ-परम्परा में महावीर के योगदान को सूचित करती हैं। इस प्रकार महावीर पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा में देश और काल के अनुसार नवीन संशोधन करने पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ-परम्परा के संशोधक या सुधारक हैं।

११. तीर्थंकर और लोककल्याण

जैन-धर्म में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकारी, लोकप्रदीप तथा अभयदाता आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि समय-समय पर धर्मचक्र का प्रवर्तन करने हेतु तीर्थंकरों का जन्म होता रहता है। सूत्रकृतांग-टीका में कहा गया है कि तीर्थंकरों का प्रचलन एवं धर्मप्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, पूजा एवं सत्कार के लिए नहीं। जैनधर्म में यद्यपि तीर्थंकर को लोकहित करने वाला बताया गया है, फिर भी उनका उद्देश्य स्वजनों का संरक्षण एवं दुष्टों का विनाश नहीं है, क्योंकि यदि वे दुष्टों का विनाश करते हैं, तो उनके द्वारा प्रदर्शित अहिंसा का चरमादर्श खण्डित होता है, साथ ही सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों के विनाश के प्रयत्न निवृत्तिमार्गी साधना-पद्धति के अनुकूल नहीं है। लोकपरित्राण अथवा लोककल्याण तीर्थंकरों के जीवन का लक्ष्य अवश्य रहा है, किन्तु मात्र सन्मार्ग के उपदेश के द्वारा, न कि भक्तों के मंगल हेतु दुर्जनों का विनाश करके। तीर्थंकर धर्म -संस्थापक होते हुए भी सामाजिक कल्याण के सक्रिय भागीदार नहीं हैं। वे सामाजिक घटनाओं के मात्र मूकदर्शक ही हैं।

यद्यपि आचारांग में तीर्थंकरों ने 'आणाये मामगं धम्मं' कहकर अपनी आज्ञा के पालन में ही धर्म की उद्घोषणा की है, फिर भी उनका धर्मशासन बलात् किसी पर थोपा नहीं जाता है, आज्ञापालन ऐच्छिक है। जैन-धर्म में तीर्थंकर को सभी पापों का नाश करने वाला भी कहा गया है। एक गुजराती जैन कवि ने कहा है[२३६] -"चाहे पाप का पुञ्ज मेरु के आकार के समान ही क्यों न हो, प्रभु के नाम रूपी अग्नि से यह सहज ही विनष्ट हो जाता है।" इस प्रकार जैन-धर्म में तीर्थंकर के नाम-स्मरण एवं उपासना से कोटि जन्मों के पापों का प्रक्षालन सम्भव माना गया है, फिर भी जैन तीर्थंकर अपनी ओर से ऐसा कोई आश्वासन नहीं देता कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है कि कृतकर्मों के फलभोग के बिना मुक्ति नहीं होती है।[२३७] प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा स्वयं ही पूरा करना है। चाहे तीर्थंकर के नाम रूपी अग्नि से पापों का प्रक्षालन होता हो, किन्तु तीर्थंकर में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह अपने भक्त को पीडाओं से उबार सके, उसके दु:ख कम कर सके, उसके पापों से मुक्ति दिला सके। इस प्रकार तीर्थंकर अपने भक्त का त्राता नहीं है। वह स्वयं निष्क्रिय होकर भक्त को प्रेरणा देता है कि तू सक्रिय हो, तेरा उत्थान एवं पतन मेरे हाथ में नहीं, तेरे ही हाथ में निहित है।[२३८] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर लोककल्याण या लोकहित की कामना को लेकर मात्र धर्म-प्रवचन करता है, ताकि व्यक्ति उन धर्माचरणों पर चलकर अपना आध्यात्मिक विकास कर सके और स्वयं भी उसी तीर्थंकर पद का अधिकारी बन सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइयराणं, तित्थगराणं, सयंसंबुद्धाण....धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं।

कल्पसूत्र-१६ (प्राकृतभारती, जयपुर)

२. परिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसववरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं। लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोक-पईवाणं, लोग-पज्जीयगराणं।

कल्पसूत्र-१६

३. दीर्घनिकाय पृ. १७-१८ (हिन्दी-अनुवाद) में छह तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है - १. पूर्ण काश्यप २. मंक्खलि गोशाल ३. अजितकेश कम्बल ४. प्रबुद्ध कात्यायन ५. संजयबेलट्ठिपुत्त ६. निगण्ठ नातपुत्त।

४. (अ) उत्तराध्ययन - २३/१, २३/४

(ब) आचारांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध-१५/११; १५/२६/६

(स) स्थानांग - ९/६२/१, १/२४९-५०, २/४३८-४४५, ३/५३५, ५/२३४

(द) समवायांग - १/२, १९/५, २३/३, ४, २५/१, ३४/४, ५४/१

(इ) भगवती - ९/१४५

५. 'तिथ्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे - समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।'

भगवतीसूत्र, शतक २० उ. ८ सूत्र ७४

६. 'तिर्त्थंति पुव्वभणियं संघो जो नाणचरणसंघाओ।

७. आचारांग १।४।१।१

८. पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा या पच्छिमा।
मज्झिमा उज्ज पन्ना य, तेण धम्मे दुहा कए ।।
- उत्तराध्ययन २३।२६

इह पवयणं पि तित्थं, वत्तोऽणत्थंतरं जेण।।
विशेषावश्यकभाष्य, १३८०

९. स्थानांग ४/३३९

१०. भगवं अरिट्ठनेमि ति लोगनाहे दमीसरे।
उत्तराध्ययन २२/४

११. 'इमेहि य' णं कारणेहिं आसेविय - बहुलीकएहिं तित्थयरनाममोयं कम्मं निव्वत्तिंसु, तं जहा - ।

१२. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १, पृ. १४०, भाग २, पृ. १५७

१३. जैनत्व को झांकी, (उपाध्याय अमरमुनिजी) पृ. ५३

१४. करुणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते धीमान् , वर्धमान् महोदयः।
तत्तत्कल्याणयोंगेन, कुर्वन्सत्वार्थमेव सः।

४. (अ) उत्तराध्ययन - २३/१, २३/४
(ब) आचारांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध १५/११, १५/२६/६
(स) स्थानांग - ९/६२/१, १/२४९-५०, २/४३८-४४५, ३/५३५, ५/२३४
(द) समवायांग - १/२, १९/५, २३/३, ४, २५/१, ३४/४, ५४/१
(इ) भगवती - ९/१४५

५. 'तिथ्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे - समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।'
भगवतीसूत्र, शतक २० उ. ८ सूत्र ७४

६. 'तिर्त्थंति पुव्वभणियं संघो जो नाणचरणसंघाओ।
इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण।।
विशेषावश्यकभाष्य, १३८०

७. आचारांग १।४।१।१

८. पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा या पच्छिमा।
मज्झिमा उज्ज पन्ना य, तेण धम्मे दुहा कए ।।
- उत्तराध्ययन २३।२६

९. स्थानांग ४/३३९

१०. भगवं अरिट्ठनेमि ति लोगनाहे दमीसरे।
उत्तराध्ययन २२/४

११. 'इमेहि य' णं वीसाए कारणेहिं आसेविय - बहुलीकएहिं तित्थयरनाममोयं कम्मं निव्वत्तिंसु, तं जहा - ।

१२. पारद्धतितित्थयरनामबंधभवाओ
तदियभवये तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं मोक्खगमणणियमादो।
- धवला ८/३, ३८/७५/१

१३. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, पृ. १४०, भाग २, पृ. १५७

१४. जैनत्व की झाँकी, (उपाध्याय अमरमुनिजी) पृ. ५३

१५. करुणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते धीमान् , वर्धमान् महोदयः।
तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन्सत्वार्थमेव सः।
तीर्थकृत्वमवाप्नोति, परं सत्वार्थसाधनम् ।।
योगबिन्दु २८७-२८८

१६. चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः।
तथानुष्टानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ।।
योगबिन्दु, २८९

१७. संविग्नो भव निर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः।
आत्मार्थसम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली।।
वही, २९०

१८. पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णयवय-पत्तेयबुद्ध।
समवायांग, (सं. मधुकरमुनि) ५४७

१९. उत्तराध्ययनचूर्णि १८/६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. पत्तेयबुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्य य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ।। १ ।।
णारत-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य।
वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेतलिसुत्ते य ।। २ ।।
मंखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विदूविंपू।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादी य तरुणे य ।। ३ ।।
गद्दभ रामे य तहा हरिगिरि अम्बड मयंग वारत्ता।
तंसो य अद्द य वद्धमाणे वा तीस तीमे ।। ४ ।।
पासे लिंगे अरुणे इसिगिरि अद्दालए य वित्तेय।
सिरिगिरि सातियपुत्ते संजय दीवायणे चेव ।। ५ ।।
तत्तो य इंदणागे सोम यमे चेव होइ वरुणे य।
वेसमणे य महप्पा चत्ता पंचेव अक्खाए ।। ६ ।।
इसिभासियाइं-संगहिणी गाथा-परिशिष्ट १, पृ. २९७

२१. सूत्रकृतांग, १/६

२२. देखें - आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५ में वर्णित महावीर - चरित्र

२३. देखें - कल्पसूत्र में वर्णित महावीरचरित्र

२४. (अ) पंच महाकल्लाणा सव्वेसि जिणाण हवंति नियमेण।
पंचासक (हरिभद्र) ४२४
(ब) 'जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणाम।
- धवला १३/५, १०१/३६६/७
- गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८१/६

२५. कल्पसूत्र १५-७१

२६. वही ९६, आचारांग २/१५/११, २/१५/२६-२९

२७. वही ११०-११४, आचारांग २/१५/१-६

२८. देखें - आचारांग २/१५/१४०-४२, कल्पसूत्र २११

२९. कल्पसूत्र १२४

३०. 'अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।'
अन्ययोगव्यवच्छेदिका १ (हेमचन्द्र)

३१. चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णता। तं जहा-अवट्ठिए केस-मंसु-रोम-नहे १, निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी २, गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए ३, पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे ४, पच्छन्ने आहार-नीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५, आगासगयं चक्कं ६, आगासगयं छत्तं ७, आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८, आगासफालिआमयं सपायपीढं सीहासणं ९, आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडिआभिराओ इंदज्झओ पुरओ गच्छइ १०, जत्थ जत्थ वि य णं अरहंता भगवंतो चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं जक्खा देवा संछन्नपत्तपुप्फ-पल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवरपायवो अभिसंजायइ ११, ईसिं पिट्ठओ मउडठाणंमि तेयमंडलं अभिसंजाइ, अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ १२, बहुसमरमणिज्जे भूमिमागे १३, अहोसिरा कंटया भवंति १४, उउविवरीया सुहफासा भवंति १५, सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंतासंपमज्जिज्जइ १६, जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेणूयं किज्जइ १७, जल-थलयभासुरपभूतेणं विंटट्ठाइणा दसद्धण्णेणं कुसुमेण जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८, अमणुण्णाणं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाणं अवकिरसो भवइ १९, मणुण्णाणं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाणं पाउब्भावो भवइ २०, पच्चाहरओ वि य णं हिययगमणीओ जोयणनीहारी सरो २१, भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२, सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पअ-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहय-भासत्ताए परिणमइ २३, पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगा अरहओ पायमूले पसंत-चित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४, अण्णउत्थियपावयणिया वि यं ण आगया वंदंति २५, आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पलिवयणा हवंति २६, जओ जओ वि यं ण अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि यं ण जोयण-पणवीसाएणं ईती न भवइ २७, मारी न भवइ २८, सचक्कं न भवइ २९, परचक्कं न भवइ ३०, अटवुट्ठी न भवइ ३१, अणावुट्ठी न भवइ ३२, दुब्भिक्खं न भवइ ३३, पुव्वुप्पण्णा वि यं ण उप्पाइया वाहीओ खिप्पमेव उवसंमति ३४।
- समवायांग सूत्र (सं. मधुकर मुनि) समवाय ३४

३२. समवायांग टीका, अभयदेव सूरि, पृ. ३५

३३. पणीतीसं सच्चवयणाइसेसां पण्णत्ता - समवायांगसूत्र, समवाय ३५।

३४. पंचेव अंतराया, मिच्छत्तमनाणमविरई कामो।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ।। १९२ ।।
अभिधानराजेन्द्रकोश, पृ. २२४८

३५. 'हिंसाऽऽइतिंग कीला, हासऽऽइपंचगं च चउकसाया।
मयमच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ।। १९३ ।।
अभिधानराजेन्द्रकोश, पृ. २२४८

३६. 'छुहतण्हभीरुरोसो रागो, मोहो चिंताजरा रुजामिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विण्हियाणिद्दाजणुव्वेगो।'
नियमसार, ६

३७. तत्त्वार्थसूत्र, ६-२३, पृ. १६२

३८. ज्ञाताधर्मकथा, १/८/१८/

३९. भागवत १/२/५; २/६/४१-४५

४०. णाइ णन्तु भाविणिहि णिरुतउ, एहउ वीरजिणिदेवतउ।
पढ़तु समासमि कालु अणाइउ, सो अणन्तु जिणणाणि जाइउ ।।
- महापुराण २/४

४१. जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउबीसं तित्थगरा होत्था। तं जहां-उसभे१, अजिये २, संभवे ३, अभिणंदणे ४, सुमई ५, पउमप्पपहे ६, सुपासे ७, चंदप्पभे ८, सुविहि-पुप्फंदते ९, सीयले १०, सिज्जंसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणंते १४, धम्मे १५, संती १६, कुंथू १७, अरे १८, मल्ली १९, मणिसुव्वए २०, णमी २१, णेमी २२, पासे २३, वड्ढमाणो २४।-समवायांग, श्री मधुकर मुनि, प्रकीर्णक समवाय ६३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. जंबुद्दीवे (णं दीवे) एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थयरा होत्था। तं जहां --
चंदाणणं सुचंदं अग्गीसेणं च नंदिसेणं च।
इसिदिण्णं वयहारि वंदिमी सोमचंदं च।।
वंदामि जुत्तिसेणं अजियसेणं तहेव सिवसेणं।
बुद्धं च देवसम्मं सययं निक्खित्तसत्थं च।।
असंजलं जिणवसहं वंदे यं अणंतयं अमियणाणिं।
उवसंतं च धुयरयं वंदे खलु गुत्तिसेणं च।।
अतिपासं च सुपासं देवेसरवंदियं च मरुदेवं।
निव्वाणमयं च धरं खीणदुहं सामकोट्ठं च।।
जियरागमग्गिसेणं वंदे खीणरयमग्गिउत्तं च।
वोक्कसियपिज्जदोसं वारिसेणं गयं सिद्धिं।।
- समवायांग (सं. श्रीमधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६४

४३. प्रवचनसारोद्धार ७, गा. २८८-२९०

४४. जयसेनप्रतिष्ठापाठ, ४७०-४९३

४५. जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउवीसं तित्थगरा भविस्संति। तं जहा -
महापउमे सूरदेवे सूपासे य सयंपभे।
सण्वाणुभूई अरहा देवस्सुए य होक्खइ।।
उदए पेढालपुत्ते य पोटिटले सत्तकित्ति य।
मुणिसुव्वए य अरहा सव्वभावविऊ जिणे।।
अममे णिक्कसाए य निप्पुलाए य निम्ममे।
चित्तउत्ते समाही य आगमिस्सेण होक्खइ।।
संवरे अणियट्टी य विजए विमले ति य।
देवोववाए अरहा अणंतविजए इ य।
एए वुत्ता चउव्वीसं भरहे वासम्मि केवली।
आगमिस्सेणं होक्खंति धम्मतित्थस्स देसगा।।
- समवायांग (सं. श्रीमधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६७

४६. जंबुद्दीवे (णं दीवे) एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीसं तित्थकरा भविस्संति। तं जहा--
सुमंगले य सिद्धत्थे णिव्वाणे य महाजसे।
धम्मज्झए य अरहा आगमिस्साण होक्खई।।
सिरिचंदे पुप्फकेऊ महाचंदे य केवली।
सुयसागरे य अरहा आगमिस्साण होक्खई।।
सिद्धत्थे पुण्णघोसे य महाघोसे य केवली।
सच्चसेणे य अरहा आगमिस्साण होक्खई।।
सूरसेणे य अरहा महासेणे य केवली।
सव्वाणंदे य अरहा देवउत्ते य होक्खई।।
सुपासे सुव्वए अरहा अरहे य सुकोसले।
अरहा अणंतविजए आगमिस्साण होक्खई।।
विमले उत्तरे अरहा अरहा य महाबले।
देणाणंदे य अरहा आगमिस्साण होक्खई।।
एए वुत्ता चउव्वीसं एरवयम्मि केवली।
आगमिस्साण होक्खंति धम्मतित्थस्स देसगा।।
समवायांग (सं. श्रीमधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय ६७४।

४७. जयसेनप्रतिष्ठापाठ ५४५-६४ ।

४८. 'वीसं वि सयले खत्ते सत्तरिसयं वरदो।" - त्रिलोकसार ६८१ ।

४९. कल्पसूत्र २१० ।

५०. वही २०५-८१; आवश्यकनिर्युक्ति १७०, ३८५, ३८७; समवायांग १५७ ।

५१. कल्पसूत्रवृत्ति २३६, २३१ (विनय-विजय); आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ. १५२-३ ।

५२. 'एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।'
- ऋग्वेद २/३३/१५

५३. (अ) 'ऋषभो वा पशुनामधिपतिः।' - तांड्य ब्राह्मण १४/२/५
(ब) 'ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः'। - शतपथ ब्राह्मण ५/२/५/१०

५४. अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जातं उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ।।
- भागवत १/३/१३
नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम् ।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्ग ।।
भागवत २/७/१०
देखें - मार्कण्डेयपुराण अध्यायं ५०, ३९-४२; कूर्मपुराण अध्याय ४१, ३७-३८, अग्निपुराण, १०, १०-११, वायुपुराण ३३/५०-५२, गरुड़पुराण १, ब्रह्माण्डपुराण १४, ६१ विष्णुपुराण २/१/२७, स्कन्धपुराण कुमारखण्ड, ३७/५७ ।

५५. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।

५६. ऋग्वेद १०/१३६/१ ।

५७. ऋग्वेद १०/१०२/६ ।

५८. श्रीमद्भागवत ५/५/२८-३१ ।

५९. पद्मपुराण ३/२८८ ।

६०. हरिवंशपुराण ९/२०४ ।

६१. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (सागर, १९७४), पृ. १४ ।

६२. हिन्दू-सभ्यता (नई दिल्ली, १९५८) पृ. २३ ।

६३. द जैन स्तूप - मथुरा, प्रस्तावना पृ. ६ ।

६४. हिन्दूविश्वकोश, जिल्द १, पृ. ६४ तथा जिल्द ३, पृ. ४०४ ।

६५. 'भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।' - भागवत ५/५/९ ।
'नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिः ऋषभः।' - वही ५/५/३५
'योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ।' - ज्ञानार्णव १/२.

६६ 'प्रजापतेः सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै सिद्ध कर्मं दृढव्रतः।।
आर्यमञ्जश्रीमूलकल्प ३९०

६७. नन्दीसूत्र १८ ।

६८. सम. १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३२३, ३८५, ३८७ ।

६९. समवायांग, गाथा १०७; आवश्यकनि. ३७८, ३७६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७०. आवश्यकवृत्ति २०५-७ ।
७१. आवश्यकनिर्युक्ति २७२, २७८, ३०३ ।
७२. वही, २५६, २६० ।
७३. समावायांग गा. १५७; नन्दीसूत्र १८; विशेषावश्यकभाष्य १७५८ ।
७४. वही, १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८५ ।
७५. वही, १०६, ५९; आवश्यकनिर्युक्ति ३७८, ३७६, २७८ ।
७६. वही, १५७; आवश्यकनिर्युक्ति २५४, ३०२ ।
७७. कल्पसूत्र २०२; आवश्यकनिर्युक्ति ३०३, ३०७, ३११ ।
७८. समवायांग गा. १५७; आवश्यकनिर्युक्ति २५६, २६० ।
७९. वही, १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८२ ।
८०. आवश्यकनिर्युक्ति ३७६ ।
८१. वही २२५, २८०, ३०३ ।
८२. वही २५६, २६० ।
८३. समवायांग गा. १५७; विशेषावश्यकभाष्य १६६४, १७५८ ।
८४. वही, १०४, १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८३, ३८५, ३८७ ।
८५. आवश्यकनिर्युक्ति ३७६, ३७८ ।
८६. समवायांग गा. १५७ ।
८७. आवश्यकनिर्युक्ति ३०३, ३०७, ३११, २७२-३०५ ।
८८. कल्पसूत्र १९९; आवश्यकनिर्युक्ति १०८९ ।
८९. समवायांग गा. १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८२-३८७ ।
९०. वही १०३; आवश्यकनिर्युक्ति ३७६, ३७८ ।
९१. वही १५७ ।
९२. आवश्यकनिर्युक्ति ३०२-३०६ ।
९३. वही २५६-२६६, २७२-३०५ ।
९४. समवायांग गाथा १५७; विशेषावश्यकभाष्य १७५८; आवश्यकनिर्युक्ति ५०९० ।
९५. वही १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८२, ३८५, ३८७ ।
९६. वही १०१; आवश्यकनिर्युक्ति ३७६ ।
९७. समवायांग, गाथा १५७ ।
९८. आवश्यकनिर्युक्ति ३०३, ३०७, ३०९ ।
९९. वही २५७, २६१ ।
१००. कल्पसूत्र १९७; आवश्यकनिर्युक्ति १०९० ।
१०१. समवायांग, गाथा १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८३, ३८५, ३८७ ।
१०२. वही, गा. १०१; आवश्यकनिर्युक्ति ३७८ ।
१०३. आवश्यकनिर्युक्ति ३७६ ।
१०४. समवायांग, गाथा १५७; स्थानांग ७३५; आवश्यकनिर्युक्ति २७२-३०७ ।
१०५. वही, गा. ९३; आवश्यकनिर्युक्ति २५७, २६६ ।
१०६. कल्पसूत्र १९६; आवश्यकनिर्युक्ति १०९१ ।
१०७. समवायांग, गाथा १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८५, ३८८ ।
१०८. वही, गा. १००; आवश्यकनिर्युक्ति ३८५, ३८८ ।
१०९. आवश्यकनिर्युक्ति ३७६ ।
११०. समवायांग, गाथा १५७ ।
१११. आवश्यकनिर्युक्ति ३०३, ३०७ ।
११२. वही २५७, २६१ ।
११३. समवायांग, गाथा १५७, विशेषावश्यकभाष्य १७५८, १०९१, १११२; आवश्यकनिर्युक्ति ३७० ।
११४. समवायांग, गाथा १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८३, ३८५, ३८८ ।
११५. वही, गा. ९०; आवश्यकनिर्युक्ति ३७९ ।
११६. आवश्यकनिर्युक्ति ३७६
११७. समवायांग, गा. १५७ ।
११८. आवश्यकनिर्युक्ति ३०७ ।
११९. वही २५७, २६१ ।
१२०. समवायांग, गाथा १५७; विशेषावश्यकभाष्य १७५१, १६६९, १७५८; आवश्यकनिर्युक्ति ३७०, ४२०, १०९२ ।
१२१. समवायांग, गाथा १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८३, ३८५, ३८८ ।
१२२. वही, गा. ८०; आ.नि. ३७९ ।
१२३. वही, गा. १५७ ।
१२४. आवश्यकनिर्युक्ति ३०४, ३०७ ।
१२५. वही २५७, २६१ ।
१२६. समवायांग, गाथा १५७; विशेषावश्यकभाष्य १६५७, १७५८; आ. नि. ३७०, १०९२ ।
१२७. वही १५७; आवश्यकनिर्युक्ति ३८३, ३८५, ३८८ ।
१२८. वही, गा. ७०; आवश्यकनिर्युक्ति ३७९ ।
१२९. आवश्यकनिर्युक्ति, ३७७ ।
१३०. समवायांग, गाथा १५७ ।
१३१. वही १५७; आवश्यकनिर्युक्ति २५७, २६१ ।
१३२. समवायांग, गाथा १५७; वि.आ.भा. १७५८; आ.नि. ३७१, १०९३ ।
१३३. वही १५७; आ.नि. ३८२, ३८८ ।
१३४. वही ६०; आ.नि. ३७९, ३७६ ।
१३५. समवायांग, गाथा १५७ ।
१३६. कल्पसूत्र १९२ आवश्यकनिर्युक्ति २७२-३२५, ३२६ ।
१३७. समवायांग गाथा १५७ ।
१३८. वही १५७, विशेषावश्यकभा. १७५८ ।
१३९. वही १५७; आ.नि. ३८६, ३८८ ।
१४०. वही ५० आवश्यकनिर्युक्ति ३७९, ३७७ ।
१४१. वही १५७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४२. आवश्यकनिर्युक्ति २७२-३०५ ।
१४३. वही २५६ ।
१४४. समवायांग, गाथा १५७, विशेषावश्यकभाष्य १७५९, आ.नि. १०९४ ।
१४५. वही १५७, आ.नि. ३८३, ३८६, ३८८ ।
१४६. वही ४५, आ.नि. ३७७, ३७९ ।
१४७. वही १५७ ।
१४८. आ.नि. २५६ ।
१४९. समवायांग, गाथा १५७, उत्तराध्यय १८/३३, वि.भा. १७५९ ।
१५०. वही १५८, आ.नि. ३८३, ३९८, ३९९ ।
१५१. वही ४०, आ.नि. ३७७, ३९२, ३७९
१५२. वही १५७ ।
१५३. कल्पसूत्र, आ.नि. २७२-३०४, ३०७, ३०९ ।
१५४. समवायांग, गाथा १५७, आ.नि. २५८, २६०, २६२ ।
१५५. समवायांग, गाथा १५७, १५८ आ.नि. ३१, ३७४, ३८४, ३९, ३९९, ४१८, विशेषावश्यकभाष्य १७५९ ।
१५६. समवायांग १५८ ।
१५७. वही ३५, आ.नि. ३८०, ३७७ ।
१५८. वही १५७ ।
१५९. वही ९५, आ.नि. २७२-३०५, ३७ ।
१६०. आ.नि. २५८ ।
१६१. समावायांग १५७, स्थानांग ४११, वि.भा. १७५९ , आ.नि. ३७१, ४१८, ४२१, १०९५ ।
१६२. समवायांग, गाथा १५७-१५८, आ.नि. ३८३, ३९८-९९ ।
१६३. वही ३०, आ.नि. ३८०, ३९३ ।
१६४. आवश्यकनिर्युक्ति २२४, २३८ ।
१६५. समवायांग, गाथा १५७ ।
१६६. कल्पसूत्र १८७, आ.नि. २५८-२६३, ३०५, ३०७ ।
१६७. आवश्यकनिर्युक्ति २५८ ।
१६८. 'भूपपुव्वं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसितित्थकरो कामेसु वीतरागो....मुगपक्ख...अरनेमि....कुद्दालक....हत्थिपाल....ओतिपाल....अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स सोपन, भिक्खवे सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेतु।'
अंगुत्तरनिकाय, भा. ३, पृ. २५६-२५७
१६९. अंगुत्तर निकाय, भाग ३, अरकसुत्त, पृ. २५७-५८ ।
१७०. उत्तराध्ययन, अ. १० ।
१७१. समवायांग १५७, विशेष. भा. १७५९ ।
१७२. समवायांग १५७, आ.नि. ३८६ ।
१७३. समवायांग, गा. २५, ५५ आवश्यकनिर्युक्ति ३७७, ३८०।
१७४. आवश्यकनिर्युक्ति २५८ ।
१७५. वही २७२-३०५, ३०७।
१७६. समवायांग, गा. १५७, स्थानांग ४११, वि.आ.भा. १७५९ ।
१७७. वही १५७, आ.नि. ३८३ ।
१७८. वही २०, आवश्यक निर्युक्ति २७७, २७९ ।
१७९. वही १५७।
१८०. वही ३०५, ३२५।
१८१. वही २५९, २७८, समवायांग, गा. ५० ।
१८२. समवायांग ३०, ४१, १५८, कल्पसूत्र १८४, स्था. ४११, आ.नि. ३७१, ४१९ वि.आ.भा. १७५९।
१८३. समवायांग १५७, आ.नि. ३८६, ३८९ ।
१८४. वही १५७, आ.नि. ३८०, ३७७ ।
१८५. वही १५७ ।
१८६. स्थानांग ७३५, आ.नि. २७२-३०५ ।
१८७. आवश्यकनिर्युक्ति २५८।
१८८. समवायांग, गा. १५७, उत्त.नि., पृ. ४९६।
१८९. उत्तराध्ययन, अ. २२, समवायांग १५७, आ.नि. ३८६।
१९०. समवायांग, गा. १०, आ.नि., गा. ३८०, ३७७।
१९१. (अ) उत्तराध्ययन, अध्याय २२, (ब) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ. ४९६। (स) दशवैकालिकचूर्णि, पृ. ८७ ।
१९२. आवश्यकनिर्युक्ति, २५८।
१९३. तिलोयपण्णत्ति ४।११८५-१२०८ ।
१९४. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १, पृ. ३८९।
१९५. ऋग्वेद १/१४/८९/६, १/२४/१८०/१०, ३/४/५३/१७, १०/१२/१७८/१ ।
१९६. छान्दोग्योपनिषद ३/१७/४-६ ।
१९७. समवायांग, गाथा २४ ।
१९८. कल्पसूत्र १५०, समवायांग गा. १५७, आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ३८४-८९।
१९९. समवायांग, गा. ९ आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ३८०, ३७७ ।
२००. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ. १ ।
२०१. जैन-शिलालेख-संग्रह, भाग ३, लेखसंख्या ८३।
२०२. Indian Autiquary, Vol. 9th, Page 160.
२०३. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ. २१ ।
२०४. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा पृ. ४ ।
२०५. जैनसाहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ. २०२-२१३।
२०६. उत्तराध्ययन २३/२५-३०।
२०७. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ. २१।
२०८. इसिभासियाइं, अध्याय ३१ ।
२०९. समवायांग, गा. २४, १५७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१०. कल्पसूत्र २१ ।

२११. वही २१-२६।

२१२. समवायांग, गा. ७, आवश्यकनिर्युक्ति ३७७।

२१३. कल्पसूत्र ११०, ११२, आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पृ. २४९, आ.नि.गा. २९९।

२१४. कल्पसूत्र १२०।

२१५. वही १३४-१४७।

२१६. (अ) संयुत्तनिकाय, नानातित्थिय सुत्त २।३।१० ।
(ब) संयुत्तनिकाय, संखसुत्त ४०१८।
(स) अंगुत्तरनिकाय, पंचकनिपात ५।२८।८।१७।
(द) मज्झिमनिकाय, उपातिसुत्त २।१।६ ।

२१७. (अ) कुण्डपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्य णाह कुले। तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ।।२३।। - जयधवला, भा. १, पृ. ७८ ।
(ब) 'णाहोग्गवंसेसु वि वीर पासा' ।।५५०।। तिलोयपण्णत्ति, अ. ४।
(स) 'उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ' - देशभक्ति, पृ. ४८।

२१८. 'णातपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे' - सूत्रकृतांग १ श्रु., अ., १ उ.।

२१९. बुद्धचर्या, पृ. ५५१ ।

२२०. वही, पृ. ४८१ ।

२२१. इण्डियन सेक्ट ऑफ दी जैनास्, पृ. २९ ।

२२२. वही, पृ. ३६ ।

२२३. सूत्रकृतांग १।१।२।२३ ।

२२४. यानि च तीणि यानि च सट्ठि। सुत्तनिप समियसुत्त।

२२५. (अ) स्थानांग ४।४।३४५। (ब) भगवती ३०।१।८२४।

२२६. किरियं अकिरियं विणियंति तइय अन्नाणामहंसु च उत्थमेव। -सूत्रकृतांग १।१२।१।

२२७. सूत्रकृतांग १।१२।४-८।

२२८. वही १।१२।२ ।

२२९. उत्तराध्ययन १८।३३ ।

२३०. सूत्रकृतांग १।१०।१७ ।

२३१. आचारांग सटीक श्रु. १, अ. १, उद्दे. १, पत्र २० ।

२३२. निशीथसूत्र सभाष्य, चूर्णि भाग १, पृ. १५ ।

२३३. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त ।

२३४. वही (हिन्दी अनुवाद), पृ. २१ का सार ।

२३५. सूत्रकृतांग-टीका १।६।४।

२३६. पाप पराल को पुञ्ज वण्यो, मानो मेरु आकारो ।
ते तुम नाम हुताशन तेसी सहज ही प्रजलत सारो ।।

२३७. "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" - उत्तराध्ययन, ४।३ ।

२३८. "पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?" - आचारांग १।३।३ ।
"पुसि ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पसुच्चसि।
- वही, १।३।३।

- तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org